SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक १२

दिसम्बर १९९९

मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
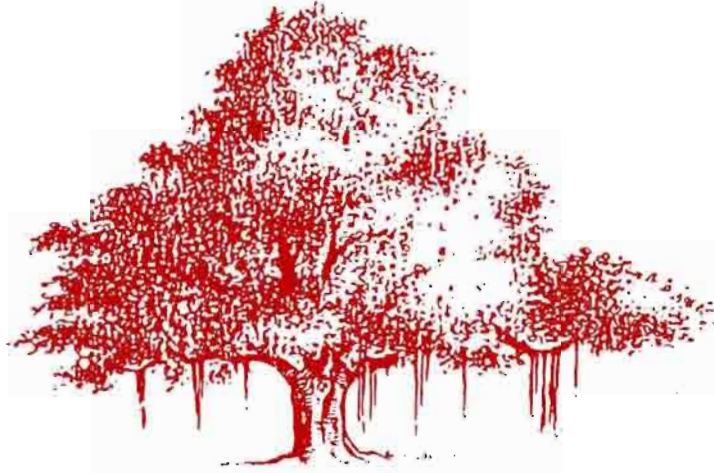
जैसे वृक्ष धरती से लवण और जल,
वातावरण से वायु, और सूर्य से ऊर्जा
ग्रहण करता हुआ अपने शरीर को स्वस्थ
रखता है, वैसे ही हे प्रभो! विश्व का
प्रत्येक प्राणी प्रकृति से आवश्यक तत्त्वों
का संचय करता हुआ अपने-आपको
स्वस्थ रखे!

- श्रुति -

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक १२ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर — ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष · २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

Ramakrishna Mission
R. K. Mission Road, Laitumkhrah,
SHILLONG - 793 003

शिलांग में क्विन्टन रोड पर 'विवेकानन्द सांस्कृतिक केन्द्र' के निर्माण के लिए दान हेतु अपील

मेघालय प्रदेश की राजधानी शिलांग सुरम्य पहाड़ियों में स्थित एक सुन्दर नगर है। १९०१ ई. के अप्रैल में स्वामी विवेकानन्द यहाँ पधारे थे और लगभग दो सप्ताह निवास किया था। अपने शिलांग-प्रवास के दौरान उन्होंने यहाँ जेल रोड तथा क्विंटन रोड के मिलन-बिन्दु पर निर्मित 'क्विंटन मेमोरियल हॉल' का उद्घाटन किया था। उस हॉल में उन्होंने 'भारतीय संस्कृति' विषय पर एक भाषण भी दिया था। उस सभा में अंचल के सभी गण्यमान्य नागरिक उपस्थित थे, जिनमें आसाम के तत्कालीन मुख्य कमीश्नर सर हेनरी काटन भी थे। वे तब तक स्वामीजी के उत्साही प्रशसक बन चुके थे। इस प्रकार यह स्थान स्वामी विवेकानन्द के पावन-स्मृतियों के साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध है और उनके भक्तों तथा प्रशंसकों के लिए एक तीर्थस्थल बन गया है।

१९९३ ई. में क्विंटन मेमोरियल हॉल के ट्रस्टियों ने इसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति रामकृष्ण मिशन को सौंप दी। अब यह 'विवेकानन्द सांस्कृतिक केन्द्र' के नाम से जाना जाता है। यहाँ सार्वजनिक पुस्तकालय, चिकित्सालय आदि कुछ सेवाकार्य संचालित हो रहे हैं। इस भवन के अत्यन्त जीर्ण अवस्था में होने के कारण यहाँ किसी भी प्रकार का स्थायी सेवाकार्य चलाना सम्भव नहीं है। अतः इसके जीर्णोद्धार के लिए योजना बनाई गई है। इसे स्वामी विवेकानन्द का भव्य स्मारक-भवन बनाने की योजना है, जो सभी श्रेणी के लोगों और विशेषकर युवावर्ग को प्रेरणा प्रदान कर सकें।

सुयोग्य वास्तुविदों तथा अभियंताओं द्वारा स्मारक-भवन का विस्तृत नक्शा बनाया गया है। आधारशिला-प्रतिष्ठा समारोह तथा भूमि-पूजन का कार्य रामनवमी के पावन अवसर पर २५ मार्च १९९९ को सम्पन्न हुआ। तब से निर्माण कार्य द्रुत गति से जारी है। प्रस्तावित दुमंजिला इमारत में निम्नलिखित सेवा-कार्यों के लिए भवन बनाने की योजना है – (१) महाविद्यालय के छात्रों के लिए एक सुसज्जित पुस्तकालय। (२) विद्यार्थियों के लिए कोचिंग कक्षाएँ। (३) युवा परामर्श-केन्द्र। (४) विद्यार्थियों के लिए छात्रावास (५) उत्तर-पूर्वी भाषाओं का एक विद्यालय। (६) एक सभागार (लगभग ३०० लोगों के लिए)। (७) एक चिकित्सालय।

इस निर्माण-कार्य की अनुमानित लागत लगभग ७०,००,०००/- (सत्तर लाख) रुपये है। स्पष्ट है कि मिशन के मित्रों, भक्तों तथा शुभचिन्तकों के सक्रिय सहयोग के बिना यह विशाल राशि एकत्रित नहीं की जा सकती। उदार दाताओं से हम विनम्र निवेदन करते हैं कि आप इस पुनीत कार्य में अपना बहुमूल्य योगदान करें। रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आई.टी.ऐक्ट के धारा ८०जी के तहत आयकर से मुक्त है। न्यूनतम दानराशि भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करके प्राप्ति की रसीद दी जायेगी। कृपया चेक/डी.डी. 'रामकृष्ण मिशन, शिलांग' के नाम से प्रेषित करें।

धन्यवादपूर्वक

प्रभु की सेवा में

स्वामी योगात्मानन्द

सचिव

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(दसवीं तालिका)

४००. श्री देवेन्द्र दत्त पाण्डेय, बागी, देवप्रयाग, गढ़वाल (उ.प्र.)
४०१. कुमारी राजेश्वरी रोड़े, रामचा गोट, सतारा (महाराष्ट्र)
४०२. श्री रवीन्द्र कुमार सराफ, चाम्पा, जाँजगीर (म.प्र.)
४०३. सौ. वीणा देवी मानसिंहका, भीलवाड़ा (राजस्थान)
४०४. श्रीमती पुष्पा सूद, पहाड़गंज, नई दिल्ली
४०५. श्री संदीप कटारिया, सुन्दर नगर, रायपुर (म.प्र.)
४०६. श्री प्रह्लाद उपाध्याय, अल्लापुर, इलाहाबाद (उ.प्र.)
४०७. श्री गोपाल अग्रवाल, अग्रसेन मार्ग, कोरबा (म.प्र.)
४०८. श्री सत्यपाल ओबेराय, सेक्टर १५ डी, चण्डीगढ़
४०९. श्रीमती निष्ठाबेन वेकरिया, वाजियावाड़, भुज, कच्छ (गुजरात)
४१०. श्री रामचन्द्र राव, वक्शी बाग कॉलोनी, इन्दौर (म.प्र.)
४११. डॉ. अरविन्द काँकरिया, करेली, नरसिंहपुर (म.प्र.)
४१२. श्री धनुकराम देशमुख, चिंगरी, दुर्ग (म.प्र.)
४१३. श्री रामकुमार गौड़, आकाशवाणी, वाराणसी (उ.प्र.)
४१४. श्री सुन्दर लाल तिवारी, मोहनगिरि, विदिशा (म.प्र.)
४१५. श्री ऋषिराज एस. चौहान, प्रशान्त नगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
४१६. श्री कैलासनाथ राय, बेला, मुजफ्फरपुर (बिहार)
४१७. श्री के. बी. चॅटर्जी, शंकर नगर, रायपुर (महाराष्ट्र)
४१८. श्री नारायण भाई टी. आडवानी, काशीवाड़ा, जूनागढ़ (गुजरात)
४१९. श्री दिलीप बॅनर्जी, बधार कोना, जशपुर नगर (म.प्र.)
४२०. श्री पवन कुमार शर्मा, नैनागढ रोड, मुरैना (म.प्र.)

१. जीवन की सार्थकता (भर्तृहरि) ७४१

२. सारदा-वन्दना ('विदेह') ७४२

३. अग्निमंत्र (विवेकानन्द के पत्र) ७४३

४. चिन्तन-४६ (जीवन जीने की कला) (स्वामी आत्मानन्द) ७४५

५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग (७४ वाँ प्रवचन) (स्वामी भूतेशानन्द) ७४७

६. मानस-रोग (३५/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ७५३

७. माँ के सान्निध्य में (५३) (सुरेन्द्रनाथ सरकार) ७६३

८. कर्तव्य-रसायन (स्वामी सत्यरूपानन्द) ७६८

९. माँ सारदा का जीवन (रामानन्द चट्टोपाध्याय) ७७१

१०. माँ की स्मृतियाँ (स्वामी निर्वाणानन्द) ७८२

११. धर्म की आवश्यकता (स्वामी विवेकानन्द) ७८५

१२. स्वामी प्रेमानन्द की पुण्यकथा (श्री रमणी कुमार दत्तगुप्त) ७९३

१३. हमारी शिक्षा (१२) (स्वामी निर्वेदानन्द) ८०१

१४. प्रत्युपकार और कृतघ्नता (भैरवदत्त उपाध्याय) ८०४

१५. ईशावास्योपनिषद् (शांकर-भाष्य) (४) (स्वामी विदेहात्मानन्द) ८०५

१६. श्री सारदास्तुतिः (रवीन्द्रनाथ गुरु) ८११

१७. संवाद और सूचनाएँ - रामकृष्ण मिशन, खेतड़ी ८१२

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

जीवन की सार्थकता

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः।।

अर्थ – मृत्यु के बाद जिसका श्वेत कपाल अलंकार के रूप में मदनान्तक शिव अपने मस्तक पर धारण करते हैं, उसी का जन्म लेना सार्थक है; नहीं तो आजकल अपने तुच्छ प्राण के पोषण में लगे कुछ सामान्य लोगों से सम्मान पाकर ही व्यक्ति को गर्व का बुखार क्यों चढ़ जाता है?

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगणो
विविक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ।।

अर्थ – हे चित्त, तुम क्यों दूसरों के प्रसन्नता की आशा में प्रतिदिन उन्हें सन्तुष्ट करने के उपाय में लगे रहते हो? इसके लिए तुम्हें कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं ! बल्कि तुम स्वयं अपने चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करने का प्रयास करो । समस्त संकल्पों को त्यागकर अपने अन्तर को संयमित करो, तो उसमें अनायास ही उच्च विचारों का उदय होगा और तुम्हारी कौन-सी अभिलाषा अपूर्ण रह जायेगी?

— भर्तृहरिकृत **वैराग्यशतकम्**, ६०-६१

सारदा-वन्दना

– १ –

(दरबारी कान्हरा - झपताल)

जननि सारदे बस मुझे एक वर दे,
मेरे दुष्ट मन को स्व-चरणों में कर दे ।
पड़ा है विषय वासनाओं के लत में,
भटकता ही रहता है सारे जगत में;
इसे वश में लाना असम्भव-सा लगता,
तु पंखों को इसके, न क्यूँ अब कतर दे ।।
विपथ पर मुझे ये सदा ले के जाता,
भुलाकर विकट बन्धनों में फँसाता;
नहीं मानता है, मैं समझा के हारा,
कृपा करके तू ही इसे आज धर दे ।।

– २ –

(भैरवी - रूपक)

नहीं मेरा कोई अपना, तुम्हीं हो सारदा माता,
दिवा-निशि देखता हूँ पथ, मुझे तो बस यही आता ।।
नहीं पावन मेरा तन-मन, भरा है दोष से जीवन,
न रुचि सत्संग-तीरथ में, न जानूँ मंत्र-आराधन,
तुम्हारे स्नेह का अमृत, ही मेरे चित्त को भाता ।।
भरा विश्वास से अन्तर, कृपा होगी कभी हम पर,
हृदय मेरा तृषित मधुकर, विषय-द्रुम के कुसुम तजकर,
सतत पद-पंकजों में ही, रहे दिन-रात मँडराता ।।

– विदेह

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

लास एंजेलिस, कैलिफोर्निया
२४ जनवरी, १८९९

प्रिय निवेदिता,

मैं जिस शान्ति तथा विश्राम की खोज में हूँ, वे मुझे प्राप्त होंगे – ऐसा प्रतीत नहीं होता। फिर भी महामाया दूसरों का – कम-से-कम मेरे स्वदेश का – कुछ कल्याण करा रही हैं; और इस उत्सर्ग के भाव को अवलम्बन कर अपने भाग्य के साथ समझौता करना बहुत-कुछ सरल है। हम सभी अपने अपने भावों में आत्मबलिदान कर रहे हैं। महापूजन हो रहा है – एक महान् बलिदान के बिना और किसी प्रकार से इसका कोई अर्थ नहीं निकलता है। जो स्वेच्छापूर्वक अपने मस्तक आगे बढ़ा देते हैं, वे अनेक यातनाओं से मुक्ति पा जाते हैं। और जो बाधा उपस्थित करते हैं, उन्हें बलपूर्वक दबाया जाता है, एवं उनको कष्ट भी अधिक भोगना पड़ता है। मैं अब स्वेच्छा से आत्मसमर्पण करने के लिए कटिबद्ध हूँ। इति।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(२)

लास एंजेलिस, कैलिफोर्निया
१५ फरवरी, १९००

प्रिय निवेदिता,

तुम्हारा ... का पत्र आज मुझे पैसाडेना में प्राप्त हुआ। मालूम होता है कि 'जो' तुम्हें शिकागो में नहीं मिल सकी; किन्तु न्यूयार्क से उन लोगों का कोई समाचार मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इंग्लैण्ड से बहुत-से अंग्रेजी समाचार-पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं – लिफाफे पर एक लाइन में मेरे प्रति शुभेच्छा व्यक्त की गयी है तथा उस पर 'एफ. एच. एम.' के दस्तखत हैं। उनमें कुछ विशेष जरूरी चीज नहीं थी। कुमारी मूलर को मैं एक पत्र लिखना चाहता था; किन्तु मुझे उनका पता मालूम नहीं है। साथ ही मुझे डर भी हुआ कि कहीं पत्र लिखने से वे भयभीत न हो उठें! ...

श्रीमती सेवियर के पत्र से मुझे विदित हुआ कि कलकत्ते में निरंजन अत्यन्त बीमार पड़ गया है – पता नहीं, उसका शरीरान्त हो गया है या नहीं। अस्तु, निवेदिता, अब मैं नितान्त कठोर बन चुका हूँ – पहले की अपेक्षा मेरी दृढ़ता बहुत-कुछ बढ़ चुकी है – मेरा हृदय मानो लोहे की पत्तियों से जड़ दिया गया है। अब मैं संन्यास-

जीवन के समीप पहुँचता जा रहा हूँ। ... अगले सप्ताह मैं सैन्फ्रांसिस्को जा रहा हूँ; आशा है वहाँ मुझे सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी। ...

डरने की कोई बात नहीं। तुम्हारे विद्यालय के लिए धन अवश्य प्राप्त होगा – इसमें कोई सन्देह नहीं और कदाचित् न भी मिले, तो हानि ही क्या है? माँ जानती हैं कि किस रास्ते से वे ले जाना चाहती हैं। वे चाहे जिस रास्ते से ले जायें, सभी रास्ते समान हैं। मुझे पता नहीं है कि मैं शीघ्र ही पूर्व[१] की ओर जाऊँगा अथवा नहीं। यदि जाने का सुयोग मिला, तो मैं निश्चित ही इण्डियाना जाऊँगा।

इस प्रकार के अन्तर्जातीय मिलन का उद्देश्य महान् है – जैसे भी हो सके तुम उसमें अवश्य सम्मिलित होओ; और यदि तुम माध्यम बनकर कुछ भारतीय महिला-समितियों को उसमें सम्मिलित कर सको, तो और भी अच्छा है।...

कुछ परवाह नहीं है, हमें सब कुछ सुविधाएँ प्राप्त होंगी। यह युद्ध ज्योंही समाप्त हो जायेगा, तत्क्षण ही हम इंग्लैण्ड पहुँच जायेंगे एवं वहाँ पर जोर-शोर से कार्य करने का प्रयत्न करेंगे – ठीक है न? 'धीरा-माता' को क्या कुछ लिखा जाय? यदि उन्हें लिखना तुम्हें उचित प्रतीत हो, तो उनका पता मुझे भेज देना। उसके बाद क्या उन्होंने तुमको कोई पत्र लिखा है?

कठोर व कोमल, सभी लोग धैर्य बनाये रखो – सब कुछ ठीक हो जायेगा। ये जो तुम्हें विविध अनुभव प्राप्त हो रहे हैं, मैं तो इसे ही पसन्द करता हूँ। मुझे भी शिक्षा मिल रही है। जिस समय हम कार्य करने के लिए उपयुक्त सिद्ध होंगे, ठीक उसी समय धन और लोग अपने आप हमारे समीप आ पहुँचेंगे! इस समय मेरी स्नायुप्रधान प्रकृति एवं तुम्हारी भावनाएँ आपस में मिल जाने से गड़बड़ी हो सकती है। इसीलिए माँ मेरी स्नायुओं को धीरे धीरे आरोग्य प्रदान कर रही हैं और तुम्हारी भावनाओं को भी शान्त करती जा रही हैं। फिर हम अग्रसर होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है! अब अनेक महान् कार्य सम्पन्न होंगे – यह निश्चित जानना। अब हम प्राचीन देश यूरोप की मूल भित्ति तक को हिला डालेंगे।

मैं क्रमशः शान्त तथा धीर बनता जा रहा हूँ – चाहे जो भी कुछ क्यों न हो, मैं प्रस्तुत हूँ। अबकी बार इस प्रकार से कार्य में जुट जायेंगे कि उसके पग पग पर हमें सफलता प्राप्त होगी, कोई भी प्रयास व्यर्थ नहीं जायगा और यही मेरे जीवन का अगला अध्याय होगा। मेरा स्नेह जानना। इति।

विवेकानन्द

पुनश्च :– तुम अपना वर्तमान पता लिखना। इति।

वि.

---

१. कैलिफोर्निया के अन्तर्गत लास एंजेलिस नामक स्थान से स्वामीजी यह पत्र लिख रहे हैं। यह स्थान अमेरिका की पश्चिम दिशा में अवस्थित है। वहाँ से पूर्व अर्थात न्यूयार्क की ओर जाने की वे चर्चा कर रहे हैं। वहाँ जाने के लिए 'इण्डियाना' नामक स्थान होकर जाना पड़ता है।

जीवन जीने की कला

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं और काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर हम उन्हें क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी रायपुर के सौजन्य से गृहीत हुआ है। – सं.)

सुकरात कहते हैं कि हममें से अधिकांश लोग जीते तो हैं, पर जीने की कला नहीं जानते। इसलिए हरदम दुखी बने रहते हैं। जो व्यक्ति जीवन-कला जानता है, वही यथार्थ में जीवन का आनन्द उठाने में समर्थ होता है।

पूछा जा सकता है कि जीने की भी क्या कला होती है ? इसका उत्तर है – हाँ। वह कला ही जीवन को जीने योग्य बनाती है। कला के अभाव में मनुष्य सहज प्रवृत्ति के अनुसार चलनेवाला पशु हो जाता है। नीतिकार ने कलाविहीन मनुष्य को सींग और पूँछ से हीन पशु कहा है। जैसे एक कुत्ते ने एक बच्चे की भेड़िये से रक्षा की। परन्तु इस कारण कोई कुत्ते के प्रति कृतज्ञ हो उसे माला नहीं पहनाता। कारण यह है कि कुत्ते का यह व्यवहार उसकी बुद्धि के कारण नहीं है, वह महज Instinct के, सहज प्रकृति के कारण है। जीवन-कला बुद्धि से परिचालित होती है, 'इंसटिंक्ट' से नहीं।

मनुष्य जीवन-कला न जानने के कारण अपने को दुखी बना लेता है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर यहाँ एक ही पर्याप्त होगा।

मेरे एक मित्र भारतीय प्रशासनिक सेवा में उच्च पदस्थ अधिकारी हैं। बड़े ईमानदार और कर्मठ हैं। पर जीवन-कला की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया, इसलिए मुँहफट हो गये हैं। ईमानदार व्यक्ति कुछ रुखा-सा हो जाता है। अक्सर सत्य बोलनेवाले लोगों को क्रोधी देखा जाता है। मेरे ये मित्र भी नियम-कानून के बड़े पक्के हैं और कहीं झुकना पसन्द नहीं करते। फलस्वरूप पीठ पीछे सब लोग उन्हें कोसते रहते हैं और जब यह बात उनके कानों में आती है, तो वे निराश-से हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में से हरदम गुजरने के कारण वे तनाव और स्नायुदौर्बल्य के शिकार हो गये हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपना काम लेकर उनके पास आया। वे एकदम उस पर बरस पड़ते हैं और बोल उठते हैं कि काम नहीं होगा। बाद में भले ही वे उस व्यक्ति का काम कर देते हैं, पर उन्होंने प्रारम्भ में ही उस व्यक्ति को तो विरोधी बना ही लिया। काम हो जाने पर भी वह व्यक्ति यह नहीं सोचेगा कि साहब के कारण बना, क्योंकि साहब ने तो उसे दुत्कार ही दिया था। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि जब भी कोई व्यक्ति अपना काम लेकर उनके पास आवे, तो वे खीझें नहीं, दुत्कारें नहीं, बल्कि सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए आगन्तुक को समझा दें कि काम इन्-इन कारणों से होना कठिन है, पर मैं अपनी ओर से आपको मदद देने की भरसक कोशिश करूँगा। मनुष्य दो मीठे बोल सुनना चाहता है। जीवन-कला का यह एक पक्ष है।

इसका दूसरा पक्ष है – किसी भी आकस्मिकता के लिए तैयार रहना, यह अच्छी तरह समझ लेना कि दुनिया का गणित हमारी मर्जी के अनुसार नहीं चला करता। जब तक चलता दिखाई देता है, तो उसे हम ईश्वर की कृपा के रूप में स्वीकारें। और जहाँ वह गणित हमारे लिए गड्डमड्ड हो जाय, वहाँ हताश या निराश न होकर ईश्वर की प्रार्थना में उस परिस्थिति से जूझने के लिए मनोबल प्राप्त करने की चेष्टा करें। वास्तव में प्रतिकूल परिस्थितियों में ही मनुष्य की सच्ची कसौटी होती है। हमें यह अनुभव करना होगा कि अनुकूलता और प्रतिकूलता ही जीवन का ताना-बाना है। हमारी ऐसी अनुभूति प्रतिकूलता के क्षणों में हमारे कदमों को डगमगाने से बचाएगी।

जीवन-कला का तीसरा पक्ष है – दोष-दर्शन की वृत्ति को रचनात्मक बनाना तथा अभ्यास के द्वारा अपने भीतर गुण-दर्शन की वृत्ति पैदा करना। दोष-दर्शन हमारे स्वभाव में ही रूढ़ है, और बहुधा वह विनाशात्मक हुआ करता है। हम चटकारें लेकर दूसरों के दोषों का स्वाद लेते हैं और सबको बाँटते रहते हैं। यह हमें बड़ी हानि पहुँचाता है। दोष-दर्शन की इस वृत्ति को हमें रचनात्मक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए – जैसे चिकित्सक मरीज का दोष देखता है, और देखता ही नहीं बल्कि यंत्रों से उसे बढ़ा-बढ़ाकर देखता है। पर उसके पीछे उसकी भावना मरीज के दोष को दूर करने की होती है। इसे रचनात्मक या विधायक दोप-दर्शन कहते हैं। इसे साधने के लिए हमें अपने भीतर गुण-दर्शन की वृत्ति पैदा करनी चाहिए। यह हमारे स्वभाव में नहीं है। इस वृत्ति को प्रयासपूर्वक अभ्यास से उत्पन्न करना होता है। किसी में मुझे चट-से दोष ही दिखेगा, यह स्वाभाविक है। पर ज्योंही यह दोप-दर्शन की वृत्ति मुझमें जागे, मुझे उस व्यक्ति के गुणों को देखने की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा कोई मनुष्य न होगा, जिसमें दोष ही दोष हों और गुण न हों।

जीवन-कला के ये तीन पक्ष हमारा जीवन भीतरी दृष्टि से समृद्ध करते हैं और अपने जीवन को सार्थक बनाने में हमारी मदद करते हैं। □

सच्चा कार्य

जब हमारा 'अहं'ज्ञान नहीं रहता, तभी हम अपना सर्वोत्तम कार्य कर सकते हैं, दूसरों को सर्वाधिक प्रभावित कर पाते हैं। सभी महान प्रतिभाशाली व्यक्ति इस बात को जानते हैं। उस दिव्य कर्ता के प्रति अपना हृदय खोल दो, तुम स्वय कुछ भी करने मत जाओ। उनके ऊपर पूर्णतया निर्भर रहो, पूर्ण रूप से अनासक्त रहो। ऐसा होने पर ही तुम्हारे द्वारा कुछ यथार्थ कार्य हो सकता है।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(चौहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे सकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

आज महाष्टमी के दिन अधर के घर देवी-प्रतिमा का दर्शन करने के बाद श्रीरामकृष्ण राम दत्त के घर आए हैं। वहाँ विजय और केदार को एक साथ देखकर हँसते हुए वे बोले, "आज अच्छा मेल है। दोनों एक ही भाव के हैं!" अर्थात् दोनों भक्तिरस से परिपूर्ण हैं।

ठाकुर की कामनाएँ

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "मन में चार कामनाएँ उठी हैं।" पहली के विषय में कहते हैं, "बैगन की रसेदार तरकारी खाऊँगा।" यह गृहस्थ-धर्म के अनुसार है। उनकी दूसरी इच्छा है, "शिवनाथ से मिलूँगा।" अर्थात् शिवनाथ भक्त हैं, उनके साथ भेंट करेंगे। उनकी दो और कामनाएँ हैं – "भक्तगण हरिनाम की माला लाकर जप करें, मैं देखूँगा और आठ आने का कारण (शराब) अष्टमी के दिन तांत्रिक साधक पीयेगा, मैं देखकर प्रणाम करूँगा।" हमारे मन में प्रश्न उठ सकता है कि ठाकुर के ऐसे आचरण का क्या उद्देश्य है? बाद में वे बताते हैं कि कारण देखकर महाकारण का चिन्तन करेंगे। महाकारण के साथ भक्त का जो सम्बन्ध या योग है, इसी के प्रतीक रूप में वे कारण-पान करते हैं। ठाकुर उन्हें कारण पीते देखकर महाकारण भगवान के नशे में विभोर हो जाएँगे।

महाकारण के भाव में मतवालापन

अब नरेन्द्र की ओर दृष्टि पड़ते ही वे सब कुछ भूल गये और उठकर खड़े हो गये। नरेन्द्र के घुटने पर एक पैर बढ़ाकर काफी देर तक उसी भाव में बाह्य-ज्ञान-शून्य अवस्था में खड़े रहे। "बड़ी देर बाद समाधि भंग हुई। अब भी आनन्द का नशा नहीं उतरा है।" 'आनन्द का नशा' से तात्पर्य उस नशे जैसी अवस्था से है, तो ठाकुर को समाधि की अवस्था में होती थी। उस समय शराबी की भाँति उनका भी अपने शरीर पर भी कोई कर्तृत्व बोध नहीं रहता था। परन्तु यह शराबी कोई साधारण शराबी नहीं, बल्कि ईश्वरीय भाव में मतवाला था, जिसे साधारण लोग समझ नहीं पाते।

श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं, "सच्चिदानन्द! सच्चिदानन्द! कहूँ? नहीं, आज तू कारणानन्ददायिनी है – कारणानन्दमयी।" कारण शब्द का अर्थ उन्होंने बताया था कि जगत्-रूपी कार्य का अपने कार्य में लय होता है। जगत् के स्रष्टा ही इसके कारण हैं। फिर कारण का महाकारण में लय होता है। महाकारण अर्थात् वहाँ कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। जगत्स्रष्टा ईश्वर में व्यक्तित्व है, किन्तु महाकारण में कोई व्यक्तित्व नहीं है। इसीलिए उन्हें अव्यक्त कहा गया

है । श्रीरामकृष्ण यहाँ कह रहे हैं, "स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण । महाकारण में जाने पर सब चुप है । वहाँ बातचीत नहीं हो सकती ।" आगे कहते हैं, "सा रे ग म प ध नि । नि में रहना अच्छा नहीं । बड़ी देर तक रहा नहीं जाता । एक स्वर नीचे रहूँगा ।" क्यों? इसीलिए कि वहाँ भक्तों के साथ भावों का आदान-प्रदान सम्भव होगा । उसके ऊपर जाने पर एकदम समाधि है । वहाँ पहुँचने पर, न कोई वक्ता है और न कोई श्रोता ।

ईश्वरकोटि, जीवकोटि और नित्यसिद्ध

इसके बाद वे व्याख्या कर रहे हैं, "ईश्वरकोटि महाकारण में पहुँचकर लौट सकते हैं । वे ऊपर चढ़ते हैं, फिर नीचे भी आ सकते हैं । अवतार आदि ईश्वरकोटि हैं । वे ऊपर भी चढ़ते हैं और नीचे भी आ सकते हैं । छत के ऊपर चढ़कर, फिर सीढ़ी से उतरकर नीचे चल-फिर सकते हैं । अनुलोम और विलोम ।" अनुलोम का अर्थ है स्थूल से सूक्ष्म में जाना और विलोम का अर्थ है सूक्ष्म से स्थूल में उतर आना । उपमा देते हुए वे कहते हैं, "राजा का लड़का है, उसका तो वह अपना ही मकान है, वह सातों मंजिल पर घूम-फिर सकता है ।" सात मंजिल का अर्थ है कि मन के सात केन्द्र हैं, जिन पर एक एक सीढ़ी चढ़ते हुए मन ऊपर उठता है । सातवीं मंजिल पर पहुँचना अर्थात् महाकारण में लय हो जाना । श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि केवल अवतारी पुरुष ही इस सातवीं मंजिल तक पहुँचकर लौट सकते हैं, साधारण मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते । अवतारी पुरुष समाधि के उच्चतम स्तर तक पहुँचकर भी जीव के मंगल के लिए फिर लौट आते हैं । लोकहित-कामना का सूत्र पकड़कर ही वे स्थूल जगत् में उतर आते हैं । परन्तु साधारण लोग जब इन्द्रियों के साथ तीव्र संग्राम करके थोड़ा थोड़ा आगे बढ़कर किसी तरह सूक्ष्म तत्त्व में पहुँचते हैं, तो उनके नीचे उतरने का कोई सूत्र नहीं रहता । नीचे के सब आकर्षणों से मुक्त होकर उस महाकारण में उनका विलय हो जाता है और तब उनका अपना व्यक्तित्व नहीं रह जाता । अब बात यह है कि इस प्रकार व्यक्तित्वहीन हो जाना ही तो अच्छा है । किन्तु ठाकुर कहते हैं कि साधारण लोग खेल में एक बार जीत जाने पर फिर गोटी को कच्चा नहीं करते, पक्के खिलाड़ी पकी गोटी को फिर से कच्चा करके खेल सकता है । अवतारी पुरुष इच्छानुसार माया के पार जा सकते हैं और माया के भीतर भी रह सकते हैं । उन्हें कहीं अटक जाने का भय नहीं होता ।

यहाँ हम इस चढ़ने-उतरने की क्रिया की केवल कल्पना ही करते हैं, इसे समझने का सामर्थ्य हममें नहीं है । जो समस्त वासनाओं से मुक्त हो चुके हैं, केवल वे ही इसे समझ सकते हैं । श्रीरामकृष्ण समस्त वासनाओं से मुक्त हैं, इसलिए उनके लिए जैसा सातवीं मंजिल में रहना है, वैसा ही निचली मंजिल में रहना भी है । इसीलिए वे अपनी इच्छानुसार महाकारण में पहुँच कर भी जगत् के कल्याण की कामना का अवलम्बन करके उस दिव्य अनुभूति से नीचे भी उतर सकते हैं ।

इसके बाद ठाकुर एक तरह की आतिशबाजी के अनार की बात कहते हैं, "एक खास प्रकार है, जिसमें थोड़ी देर तो एक तरह की फूलझड़ियाँ होती हैं, फिर कुछ देर बन्द रहकर दूसरे तरह के फूल निकलने लगते हैं, मानो फूलझड़ियों का छूटना बन्द ही नहीं होता ।" यह अनार ठाकुर ने देखा है । अब उस अनार के समान ही साधक के मन में भी जो शुभ संस्कार संचित हैं, उसके फलस्वरूप उसे एक एक सीढ़ी पर एक एक प्रकार की अनुभूति

होती है । इस वैचित्र्य का मानो कोई अन्त नहीं है । फिर इच्छा होने पर साधक इन समस्त वैचित्र्य को काटकर उस अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है, जहाँ अनार से कोई फूल नहीं निकलता । अनार की उपमा के द्वारा ठाकुर भगवत्-अनुभव के वैचित्र्य को समझा रहे हैं ।

साधारण मनुष्य के भीतर मानवीय अपूर्णता, अशुद्धता रहने के कारण वह इतनी ऊँचाई तक उठ नहीं सकता । फिर भी अगर कोई थोड़ी ऊँचाई तक उठा भी, तो कुछ दूर जाकर फिर से उतर आता है । ठाकुर एक नेवले की उपमा देकर समझाते हैं । नेवले की पूँछ में एक ईंट बाँध दी गई है । वह अगर किसी तरह बिल में घुसना चाहता है तो ईंट के वजन के कारण फिर बाहर निकल आता है । इसी तरह योगी का मन भी योगाभ्यास करते करते बार बार ध्येय वस्तु से नीचे उतर पड़ता है । विषय-वासना ईंट है, दो आत्मा के साथ जुड़-कर उसे शुद्ध स्वरूप में स्थिर नहीं रहने देती । जिनमें सत्वगुण का प्रभाव अधिक है, केवल वे ही एक बार परम तत्त्व में पहुँचकर नहीं लौटते । "और भी एक तरह अनार होता है, आग लगाने के थोड़ी देर बाद ही भुस्स से फूटं जाता है ।" देह मानो वह अनार है । देह-मन रूपी आधार के माध्यम से जो विविध प्रकार के वैचित्र्य प्रकट हो रहे हैं, वे सब अनार से फूल निकलने की तरह हैं । बाद में फूल निकलना बन्द होने पर सब स्थिर-शान्त हो जाता है । इसी प्रकार से साधक भी विविध अनुभूतियों के बाद एकदम स्थिर-शान्त हो जाते हैं । यह ठाकुर के जीवन में स्पष्ट रूप से देखने में आया है । कभी कभी वे पूरी तौर से बाह्यज्ञान शून्य हो जाते थे । इसीलिए उन्होंने कहा है, "जो जीवकोटि कैं हैं, बहुत प्रयत्न करने पर उन्हें समाधि हो सकती है, परन्तु समाधि के बाद न वे नीचे उतर सकते हैं और न उतरकर खबर ही दे सकते हैं ।"

समाधि का अर्थ है – जीवात्मा का सम्यक् रूप से परमात्मा में स्थापित करना । इसके विविध स्तर हैं । एक एक सीढ़ी होकर मन ऊपर उठता रहता है । अन्त में जब वह सहस्रार में पहुँचता है, तो सब समाप्त हो जाता है । स्वामीजी कहते हैं कि एकत्व के बाद फिर उन्नति नहीं होती, क्योंकि उसके बाद कोई कल्पना नहीं की जा सकती है । जब तक बहुत्व या द्वैत है, तभी तक इस वैचित्र्य को पार कर जाने का प्रयास चलता रहता है । एकत्व के राज्य में पहुँचने के बाद फिर उसका कोई और वैचित्र्य नहीं रह जाता । अत: वहाँ जीव के लिए अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखना सम्भव नहीं होता । इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं – जीवकोटि उस सातवीं मंजिल तक नहीं जा सकता, परन्तु राजा का बेटा सातों मंजिलों में अबाध रूप से घूमना-फिरना कर सकता है ।

ठाकुर की साधना मुक्ति प्राप्त करने के लिए नहीं थी, क्योंकि मुक्ति उनमें स्वत: सिद्ध थी । उनकी साधना समस्त अज्ञान को मिटाने के लिए थी । जैसे प्रकाश जब अन्धकार का नाश करता है तब अन्धकार और प्रकाश का नाश्य-नाशक सम्बन्ध होता है । प्रकाश नाशक और अन्धकार नाश्य है । अब प्रकाश ने अन्धकार का नाश कर दिया, इसलिए प्रकाश को एक क्रियाशील वस्तु कहना होगा । इस समस्या का समाधान करने के लिए कहा जाता है कि जब तक नाश करने योग्य वस्तु रहती है, तब तक नाशक उसका नाश करता है । जब प्रकाश के सामने नाश करने के लिए कोई वस्तु नहीं रह जाती, तब वह स्वप्रकाश रूप में अवस्थान करता है, तब वह प्रकाशक अथवा नाशक नहीं होता । दार्शनिक विचारक

कहते हैं कि जब तक कोई वस्तु रहती है, तभी तक प्रकाश उसे प्रकाशित करता है । वस्तु के न रहने पर वह किसे प्रकाशित करेगा? वह स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करेगा । परन्तु स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करने पर तर्कविरोध होता है, अर्थात कर्तृ-कर्म विरोध होता है । जो कर्ता है, वह कर्म नहीं हो सकता; जो कर्म है, वह कर्ता नहीं हो सकता । कुम्हार घड़ा बनाता है, इसलिए कुम्हार कर्ता हुआ और घट उसका कार्य है । घट को वह मिट्टी से बनाता है, अत: मिट्टी उपादान हुआ । अब यदि घड़ों को तोड़ दिया जाय, तो मिट्टी रह जाती है । यदि हम इस मिट्टी को भी कल्पना से हटा लें, तो फिर कुम्हार का घड़ा बनाना नहीं हो सकेगा । तब कुम्हार निष्क्रिय हो गया । तब क्या उसका नाश हो गया? नहीं, तब वह केवल स्वयं का प्रकाशक होकर स्वयं रह गया । इसीलिए उसे स्वप्रकाश कहा जाता है । इसी प्रकार यदि एक स्वप्रकाश वस्तु न मानी जाय, तो फिर जगत में किसी भी वस्तु का प्रकाशित होना सम्भव नहीं होगा । विषय को इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं, इन्द्रियों को मन प्रकाशित करता है । अब मन को कौन प्रकाशित कर रहा है? कहते हैं – मन का अधिष्ठाता मन को प्रकाशित करता है । मन में अवस्थित रहकर जो मन को प्रकाशित कर रहा है, वह शुद्ध चैतन्य है । किन्तु यदि मन का नाश हो जाय, तब फिर उसके प्रकाश को कौन देखेगा? जब और कोई प्रकाश्य न रह जाय, तब जो अवशिष्ट बचे, वह स्वप्रकाश है । पहले ही कहा गया है कि विषय को इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं, इन्द्रियों को मन प्रकाशित करता है, मन को बुद्धि प्रकाशित करती है । बुद्धि को कौन प्रकाशित कर रहा है? कह रहे हैं कि विज्ञाता प्रकाशित कर रहे हैं । **विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्** - विज्ञाता को किस उपाय से जानेंगे? हम सभी वस्तुओं को प्रकाश में देखते हैं, पर प्रकाश को किसके द्वारा देखेंगे? प्रकाश स्वप्रकाश है । स्वप्रकाश वस्तु को न मानने से किसी वस्तु का प्रकाशन सम्भव नहीं होगा । इस चरम प्रकाश के लिए किसी अन्य प्रकाशक की कल्पना नहीं की जा सकती । ऐसी कल्पना करने से उसे अनवस्था दोष कहा जाता है । अंग्रेजी में इसे Regressum-ad-infinitum कहते हैं । अत: आत्मा शुद्धचैतन्य या स्वप्रकाश है ।

इसके बाद ठाकुर भक्तों की एक अन्य श्रेणी की बात कहते हैं – नित्यसिद्ध की श्रेणी, जो जन्म से ही ईश्वर की चाह रखते हैं । ये वेदों में वर्णित होमा पक्षी की भाँति है । होमा पक्षी इतनी ऊँचाई पर अण्डे देती है कि वह अण्डा गिरते गिरते ही उसकी आँखें खुल जाती हैं । तब वह धरती पर न गिरकर माँ की ओर उड़ जाता है । पृथ्वी के साथ उनका स्पर्श नहीं होता । नित्यसिद्ध का भी ऐसा ही होता है । उन्हें मिट्टी का स्पर्श नहीं होता । जिस ज्ञान से उनकी उत्पत्ति हुई है, उसी ज्ञान की ओर वे लौट जाते हैं । "अवतारों के साथ जो आते हैं, वे नित्यसिद्ध होते हैं, कोई अन्तिम जन्मवाले होते हैं ।" अत्यन्त शुद्ध हुए बिना अवतार के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता ।

भावग्राही ठाकुर

अब भक्त केदार भजन गा रहे हैं । वे वैष्णव भाव के हैं, इसलिए उनके गीतों के भाव भी उसी तरह के हैं । कभी जगन्माता का नाम हो रहा है, कभी गौरांग का । भाव विभिन्न हैं, परन्तु इस कारण श्रीरामकृष्ण को कुछ भी असंगत नहीं बोध हो रहा है, क्योंकि उनके लिए सभी एक हैं । भजन पर भजन गये जा रहे हैं । जिन्हें ठाकुर के पास आने-जाने का सौभाग्य मिला है, उनके लिए तो यह नित्य का दृश्य है । जब कभी उनके समक्ष कोई

भगवत्-प्रसंग उठता, तो आनन्द में वे स्वयं को भूल जाते। उनका यह आत्मविस्मरण का भाव कभी गम्भीर समाधि-अवस्था और कभी नृत्य-गीत के माध्यम से प्रकट होता था और उन गीतों के भीतर एक प्रबल उन्माद का भाव रहता था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अवस्था में ठाकुर किसी एक भाव को अपनाकर अन्य भावों को दूर नहीं कर देते थे। ऐसा लगता मानो विभिन्न भाव उनके भीतर एक साथ मिल गये हों। यही श्रीरामकृष्ण का वैशिष्ट्य हैं। दूसरों के मामले में एक एक भाव को प्रकट करने में जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं, परन्तु ठाकुर का यंत्र इस प्रकार से बना था कि चाहे जिस ओर से भी, जो भी सुर क्यों न बजे, ठाकुर उसी में सुर मिलाकर एकदम तन्मय हो जाते हैं। और फिर बाकी सबको भी उसी भाव में भावित कर देते हैं। यह एक असाधारण बात है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। शास्त्र में कहा गया है कि विभिन्न भावों का सम्मिश्रण साधक के लिए सर्वदा त्याज्य है, परन्तु ठाकुर का शास्त्र थोड़ा भिन्न हैं। समस्त भावों की पूर्ण साधना करके उन्होंने अपना जीवन इस प्रकार तैयार किया है कि भावों का मिश्रण वहाँ साधना में बाधक नहीं होता, क्योंकि वहाँ प्रत्येक भाव क्षण भर में ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो रहा है।

कारणानन्द और सहजानन्द

यहाँ पर सुरेन्द्र के साथ ठाकुर की बातें विचार करने योग्य हैं। सुरेन्द्र मद्यपान के बड़े आदी हैं। ठाकुर चिन्तित हैं। तो भी उन्होंने सुरेन्द्र को पूरी तौर से मना नहीं किया। केवल भगवान को अर्पित करके अल्प मात्रा में पीने को कहा। बाद में वे कहते हैं, "उनका (जगदम्बा) चिन्तन करते करते फिर तुम्हें पीना बिल्कुल ही अच्छा न लगेगा। वे स्वयं 'कारणानन्द-दायिनी हैं। उन्हें पा लेने पर सहजानन्द होता।" सामान्यतया मनुष्य दो कारणों से नशा करता है – एक तो संसार के दुख-कष्टों को भूले रहने के लिए और दूसरे थोड़ा-सा आनन्द पाने के लिए। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई भगवान से प्रेम कर सके, तो फिर उसे दुख-कष्टों को भूलने के लिए अन्य कोई उपाय नहीं करना पड़ता, क्योंकि तब दुख-कष्ट उसे उतना विचलित नहीं कर सकते। यह ध्यान में रखने योग्य मुख्य बात है। और यदि आनन्द के लिए नशा करना पड़े, तो फिर भगवद्-आनन्द के सामने अन्य सभी आनन्द फीके हैं। उसके सामने नशे का आनन्द तुच्छ हो जाता है।

ठाकुर किसी को नशा छोड़ने के लिए नहीं कहते, केवल उसे एक सीमा में रखने को कहते हैं। यहाँ पर वे सुरेन्द्र से भगवान को निवेदित करके पीने को कहते हैं। इससे हर बार उनका स्मरण करने के फलस्वरूप मन में क्रमशः सहजानन्द का आविर्भाव होगा और तब उन्हें आनन्द पाने के लिए नशा करने की आवश्यकता नहीं होगी। साधुओं के किसी किसी सम्प्रदाय में कभी कभी गाँजा पीकर ध्यान में बैठने की प्रथा है। तांत्रिक लोग भी मद्य पीकर जप-ध्यान करने बैठते हैं। इसका कारण यह है कि मन के भीतर स्थित जो परस्पर-विरोधी भावनाएँ बाधा उत्पन्न करती हैं, वे इससे कुछ मात्रा में दूर होती हैं और इसके फल-स्वरूप मन में भगवदानन्द निर्बाध रूप से प्रवाहित होने लगता है। तात्पर्य यह कि इससे मन के भीतर का भाव नशे के प्रभाव से और भी प्रबल हो उठता है तथा विपरीत भाव दूर हो जाता है। इसीलिए साधकगण नशा करने के पहले पूजा आदि करके मन को भगवद्-भाव में निविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, इसके फलस्वरूप वही भगवद्भाव उनके मन में उद्दीप्त हो उठता है। परन्तु इस प्रणाली का दोष यह है कि इससे मन के ऊपर प्रभुत्व करने

की क्षमता शिथिल हो जाती है और परिणामत: मन में किसी असत् वृत्ति का भी उदय होने पर, उसे संयमित नहीं किया जा सकता । अत: नशा तात्कालिक दृष्टि से भले ही आनन्द प्रदान करे, परन्तु उसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है । इससे मनुष्य का व्यक्तित्व, उसका मनुष्यत्व, उसके मन की शृंखला – सबका लोप हो जाता है । इसके अतिरिक्त इस कृत्रिम रूप से मन को उद्दीप्त करके साधना-पथ में जाने का फल स्थायी नहीं होता । नशे की हालत में कोई बुरी भावना भी मन में आ पड़ती है और प्रबल हो उठती है, तब अपने आपको संयत करने की क्षमता भी नहीं रहती । इसीलिए श्रीरामकृष्ण इन सबसे खूब सावधान रहने को कहते हैं । विशेषकर अपने भाव के धारक एवं वाहक होनेवाले उन सन्तानों से उन्होंने बारम्बार कहा है कि यह सब अच्छा नहीं है । वे कहते, "सहजानन्द होने पर फिर कारणानन्द (मद्य के आनन्द) की आवश्यकता नहीं होती । जहाँ आनन्द का स्वत: स्फुरण हो रहा है, वहाँ किसी बाह्य उपाय से आनन्द को उद्दीप्त करना वैसा ही है मानो किसी अलौकिक उपाय से मन को एक विकृत अवस्था में ले जाना । इसके द्वारा धर्म-जीवन में कभी कल्याण नहीं होता । यहाँ स्मरण रखना होगा कि जो इस पथ पर चलनेवाले हैं, ठाकुर ने उन्हें देखा, उनका संग किया और पाया कि ये लोग साधना के पथ में आगे न बढ़कर प्राय: विपथगामी हो जाते हैं । □ **(क्रमश:)** □

साधक की तीन गतियाँ

साधना की गति तीन प्रकार की होती है – पक्षी-गति, वानर-गति तथा पिपीलिका-गति ।

पक्षी गति – मानो चिड़िया ने एक फल पर जोर से चोंच मारी, वह फल नीचे गिर पड़ा, चिड़िया उसे ले नहीं सकी । इस प्रकार कुछ साधक इतनी अधीरता के साथ साधना करते हैं कि उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते ।

वानर गति – बन्दर मुँह में फल को पकड़कर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदने गया, फल मुँह से छूटकर नीचे गिर पड़ा । साधक यदि अपने आदर्श को दृढ़ता के साथ पकड़े न रखे तो इस सदा परिवर्तनशील जीवन के विभिन्न घटनाचक्र में पड़कर कभी-कभी वह उसे खो बैठता है ।

पिपीलिका गति – पिपीलिका (चींटी) धीरे-धीरे बढ़ती हुई खाद्यवस्तु के निकट जाती है और उसे मुँह में लेकर धीरे-धीरे अपनी जगह पर लौटकर उसका मजा चखती है । यह पिपीलिका-गति की साधना ही श्रेष्ठ साधना है – इसमें फल की प्राप्ति और उसका उपभोग बिल्कुल निश्चित है ।

— श्रीरामकृष्ण

मानस-रोग (३५/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके पैंतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – स०)

भगवान श्रीराघवेन्द्र के मुखमण्डल की ओर देखकर कैकेयी को थोड़ा आश्चर्य हुआ। कैकेयी ने पूछा – राम, तुम्हें मेरा यह वरदान कैसा लगा? भगवान राम ने कहा – माँ अभी तक तो यही शब्द प्रचलित था कि ब्रह्मा अनुकूल हो गया है –

दाहिन दइउ होइ जब सबही। २/२८०/३

दाहिने शब्द का अर्थ है अनुकूलता, बाएँ माने प्रतिकूलता। परन्तु भगवान राम ने कहा – दायें-बाएँ में भी झगड़ा है। दायें से कब कौन बाएँ चला जाय इसका कुछ ठिकाना नहीं है। संसार कभी अनुकूल हो जाता है तो कभी प्रतिकूल, परन्तु आपने तो ऐसी कृपा कर दी कि ब्रह्मा केवल दाहिने-बाँए ही नहीं, बल्कि उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम – चारों ओर जिधर भी दृष्टि उठाकर देखता हूँ, सर्वत्र ही ब्रह्मा अनुकूल दिखाई दे रहे हैं। और तुमने जो यह वरदान माँगा है, उसमें भी चार तरफ से चार कल्याण हैं –

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥ २/४१

पहला मुनियों से मेरा मिलन होगा और सब प्रकार से मेरा हित होगा। पिताजी तो वात्सल्य के कारण सिंहासन पर बिठा रहे थे, परन्तु तुमने सत्संग का अवसर दिया। जब मैं दाहिनी ओर देखता हूँ तो पिता का आदेश, बायीं ओर देखता हूँ तो आपकी सम्मति और सामने मुनियों से मिलन है। मुझे तो चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द दिखाई दे रहा है। आगे तो सब आनन्द है ही, पीछे भी आनन्द है, क्योंकि मेरे वन चले जाने के बाद मेरे प्राणप्रिय भरत को राज्य मिलेगा –

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥ २/४२/१

ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी श्री राघवेन्द्र आनन्द का सन्धान कर लेते हैं। इसीलिए जब वे चलने लगते हैं, तो हर्षपूर्वक गुरु वशिष्ठ को प्रणाम करते हैं –

गुर पद पदुम हरषि सिरु नावा॥ २/८०/१

त्याग का अवसर मिलने पर, महात्माओं का सत्संग मिलने पर जब हर्ष की अनुभूति हो, तो यही हर्ष का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग है। यही हर्ष का सदुपयोग आपको विभीषण के जीवन में भी मिलेगा। रावण और विभीषण दोनों भाई हैं और हर्ष का प्रसंग दोनों के चरित्र में है, परन्तु दोनों में अन्तर है। विभीषण के चरित्र में साधक के हर्ष का चित्रण है।

भरी सभा में रावण ने विभीषण को लात मारकर अपमानित कर दिया। किसी व्यक्ति का यदि अकेले में भी अपमान कर दिया जाय तो वह क्रोधित हो उठता है, परन्तु जहाँ इतनी बड़ी सभा में अपमान किया गया हो और वह भी तब, जब विभीषण रावण के हित के लिए ऐसा सुन्दर सम्मति दे रहे हों, जिसको मानकर रावण का कल्याण हो सकता है, और उल्टे रावण ने उन्हें लात मारकर निकाल दिया। किसी को भरी सभा में लात तो क्या, केवल कठोर शब्द कहकर निकाल दिया जाय, तो वह किस तरह से काँपते हुए, होठ फड़काते हुए, प्रतिशोध की भावना लेकर सभा से निकलता है। विभीषण जब रावण की सभा से चले, तो कैसे पता चला कि विभीषण की मनःस्थिति क्या है? गोस्वामीजी ने एक शब्द के द्वारा मानो बता दिया कि विभीषण के अन्तःकरण की स्थिति क्या है। विभीषण के अन्तःकरण में एक सच्चे साधक की वृत्ति है। गोस्वामीजी का वाक्य है –

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥ ५/४२/४

सभा में लात खाकर, अपमानित होकर चले तो – 'चलेउ हरषि'– हर्षित होकर, प्रसन्न होकर चले। कोई पूछ सकता है कि क्या यह स्थिति भी कोई प्रसन्नता की है? विभीषणजी ने कहा कि रावण के चरण-प्रहार से हर्ष नहीं, बल्कि इस चरण-प्रहार से अब जो चरण मिलनेवाले हैं, उसमें अतीव हर्ष है, हर्ष-ही-हर्ष है –

देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥ ५/४२/५

अगर इस चरण की कठोरता का बोध न होता तो राम के चरणों की कोमलता का साक्षात्कार न होता। संसार की कठोरता यदि हमें भगवान की कोमलता की ओर ले जाती हो, तो वह कठोरता परम कल्याणकारी है, बड़े हर्ष की बात है, प्रसन्नता की बात है।

जिसे संसार की अनुकूलता में हर्ष की अनुभूति होती है, वह तो विषयी व्यक्ति है, परन्तु जिसे संसार की प्रतिकूलता में भी भगवान की अनुकूलता का साक्षात्कार हो, वह तो साधक है, वह प्रतिकूलता में भी हर्षित होता है, प्रसन्न हो जाता है और यही हर्ष की सार्थकता और सदुपयोग है। भगवान राम को राज्य छोड़कर वन जाने की आज्ञा दी गई है। सुनकर वे प्रसन्न हो गये। वन में सन्तों का संग मिलेगा। विभीषण को प्रसन्नता हो रही है कि भगवान मिलेंगे। दृष्टि बदल जाती है, मूल्य बदल जाते हैं। सन्त और भगवान की प्राप्ति का अर्थ क्या है? क्या सन्त और भगवान के मिलन में केवल हर्ष है, सुख है? ऐसी बात नहीं। सुख-दुख, हर्ष-विषाद तो वहाँ भी है, परन्तु एक अन्तर है। गोस्वामीजी ने कहा कि इस सन्दर्भ में तो सन्त और असन्त एक ही जैसे हैं। सुख-दुख दोनों देते हैं। लेकिन –

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं॥ १/५/४

सन्त से जब मिलन होता है तो बड़ी प्रसन्नता होती है, परन्तु जैसे असन्त से मिलने पर अत्यन्त दुख होता है, वैसे ही सन्त के विछोह में अत्यन्त दुख होता है। इसी प्रकार भगवान को पाने में परम सुख है, परन्तु पाने के बाद किसी कारण यदि थोड़ी दूरी उत्पन्न हो जाय, वियोग हो जाय तो भक्त को असह्य पीड़ा होती है। परन्तु ये सुख और दुख दोनों सार्थक हैं। इससे प्रारब्ध की पूर्ति भी हो जाती है और पुनर्मिलन का सुख भी। इसका बड़ा सुन्दर संकेत मिलता है – श्रीमद्भागवत के रासलीला के प्रसंग में।

रासलीला-प्रसंग में ऐसा वर्णन आता है कि श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि सुनकर सारी गोपियाँ विह्वल होकर श्रीकृष्ण की ओर चल पड़ती हैं। जो जहाँ थीं वहीं से, जो जिस काम में लगी थीं, उसे वहीं छोड़कर श्यामसुन्दर की ओर चल पड़ीं। उन गोपियों में से एक गोपी के पति ने उसे पकड़ लिया। वहाँ पर एक बड़ी दार्शनिक बात कही गई कि अन्य गोपियाँ तो श्रीकृष्ण के पास बाद में पहुँची, परन्तु वह पहले पहुँच गई। उसका शरीर छूट गया। क्यों? उसे मुक्ति कैसे मिल गई? कहा गया कि पति ने जब उसे रोका, तो उसके मन में बड़ी व्याकुलता हुई, अत्यन्त कष्ट हुआ कि मैं भगवान श्रीकृष्ण के पास नहीं जा पा रही हूँ ?

हर्ष-विषाद या सुख-दुख के विषय में मान्यता यह है कि सुख पुण्य का और दुःख पाप का परिणाम है। इस सन्दर्भ में भागवत में एक नयी बात कही गई है कि संसार में वस्तुओं के मिलने पर जो सुख होता है, उसे यदि पुण्य का फल मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह थोड़े दिनों के लिए है। पुण्य के परिणामस्वरूप यदि धन मिला और धन मिलने से यदि सुख मिला, तो पुण्य समाप्त हो जाने पर वह धन और उसके साथ हमारा सुख भी चला जायेगा। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के खो जाने पर हमारे मन में विषाद होता है, तो यह विषाद पाप का परिणाम है। यह पाप हमें और भी पाप की ओर ले जाता है। जो वस्तु खो गई, उसमें ममता और आसक्ति होने के कारण उसका चिन्तन प्रबल हो जाता है। इस प्रकार संसार में हमारा यह सुख-दुख और पाप-पुण्य – दोनों मुक्ति की दिशा में बहुत बड़े व्यवधान हैं।

उस गोपी के सम्बन्ध में कहा गया कि वह मुक्त हो गई। कैसे? जीव तो तब मुक्त होता है, जब उसमें पाप-पुण्य – दोनों ही न रह जायँ। भगवान व्यास ने कहा कि जिस समय उसे श्रीकृष्ण से मिलने की व्याकुलता हुई, उस समय उसे इतना कष्ट हुआ कि उसके जितने पाप के फल थे, वे उसके ताप से नष्ट हो गये। भगवान से दूरी या वियोग से बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है? उसके बाद जब उसने मन-ही-मन भगवान का ध्यान किया, तो उस मिलन में इतना आनन्द आया कि इससे उसके सारे पुण्य नष्ट हो गये। जब पाप और पुण्य दोनों समाप्त हो गये, तब वह भगवान से मिलकर एकाकार हो गई। इसका अभिप्राय क्या है? यह कि हमारा सुख-दुख या पाप-पुण्य तभी सार्थक है, जब वह हमारे जीवन को मुक्त कर दे, हमें भगवान से मिला दे। हमारा पाप बन्धन का हेतु तो है ही, हमारा पुण्य भी हमारे बन्धन का हेतु बन सकता है। सुख और दुख भी बन्धन के कारण बन सकते हैं। लेकिन अपने सुख-दुख तथा हर्ष-विषाद को सन्त से जोड़ देने पर, वह सार्थक हो जाता है।

अर्जुन के अन्तःकरण में विषाद है। परन्तु इस विषाद की सार्थकता यह है कि उससे अनर्थ का नहीं, अपितु गीता का जन्म होता है। ऐसा विषाद तो धन्य है। अपने हर्ष और विषाद को भगवान से जोड़ देना ही साधक की सबसे बड़ी चतुराई है। भगवान राम ने अपने चरित्र में इसी सत्य को प्रगट किया है। जब वे विश्वामित्र के साथ चले, तो हर्षित होकर चले। राज्य मिलने का समाचार पाते ही उदास हो गये। भरत को राज्य मिले, यह उनके लिए परम हर्ष का विषय है। राज्य छोड़कर वन चले, तो हर्षित होकर चले। क्योंकि वन में सन्तों का संग मिलेगा। इससे भी आगे वह अन्तिम स्थिति 'मानस' में दो प्रसगों में है, जहाँ

हर्ष-विषाद से रहित पूर्णता की स्थिति है। यह पूर्णता की स्थिति एक तो भगवान राम के प्रसंग में है और दूसरा श्री भरतजी के प्रसग में। जहाँ यह भगवान राम के प्रसंग में है, वहाँ पर तो यह उनके ईश्वरत्व का सूचक है और जहाँ पर श्रीभरत के प्रसंग में है, वहाँ मानो यह संकेत है कि जीव भी साधना के द्वारा उस पूर्णता को पा सकता है। यह पूर्णता की स्थिति द्वन्द्वरहित स्थिति है, जहाँ न तो हर्ष है और न विषाद ही है।

भगवान राम के चरित्र में धनुषयज्ञ के प्रसंग में हर्ष-विषाद का अभाव दिखाई देता है। बड़ा सांकेतिक प्रसंग है। भगवान राम जब विश्वामित्र के साथ ताड़का-वध करने चले, तो वहाँ उनके मन में हर्ष है और अहल्या का उद्धार करने चले तो उनमें विषाद आ गया। विश्वामित्रजी ने जब अहल्या की कथा सुनाई, तो सुनकर भगवान दुखी हो गये। ताड़का का वध करना है, युद्ध करना है, तो उन्हें हर्ष हो रहा है और हर्षित होकर वे ताड़का का वध भी कर देते हैं, परन्तु अहल्या की दशा देखकर उनका जीवन वृत्तान्त सुनकर उनके मन में विषाद हुआ, वे दुखी हो गये। उनके अन्तःकरण में करुणा का संचार हुआ, कृपा की वर्षा हुई और भगवान के इस विषाद ने अहल्या का उद्धार किया। कृपा का उदय होता है – करुणा की वृत्ति से। कृपा और करुणा के मूल में दुख की अनुभूति होती है। किसी का दुख देखकर ही मनुष्य का हृदय द्रवित होता है और उसके साथ सद्व्यवहार की वृत्ति आती है।

भगवान राम के इस यात्राक्रम में हर्ष और विषाद दोनों का सदुपयोग है। ताड़का-वध तथा यज्ञरक्षा में हर्ष का सदुपयोग है और करुणा, कृपा तथा उद्धार में विषाद का सदुपयोग है। भगवान के विषाद से अहल्या का उद्धार हुआ। इस प्रकार उन्होंने दोनों पक्षों का सामंजस्य किया। परन्तु अन्त में धनुष-यज्ञ के प्रसंग में उन्होंने जो किया, वह साधक के लिए सम्भव नहीं है। यह सिद्ध की स्थिति है। विश्वामित्र के साथ यात्रा करते हुए श्रीराम ने अपने जीवन में पहले साधक वृत्ति का आरोप किया। ईश्वरावतार का स्वभाव यह है कि वह स्वयं सिद्ध होता हुआ भी नरलीला में एक सामान्य मनुष्य के समान आचरण करके साधना के तत्त्व को प्रगट करता है। लेकिन वह केवल नरलीला ही नहीं करता, अपितु बीच बीच में अपने ईश्वरत्व को भी प्रगट करता है। जनकजी के मण्डप में ऐसा ही प्रसंग आता है और इस प्रसंग की यही पराकाष्ठा है। वहाँ शंकरजी का धनुष रखा हुआ है।

ताड़का-वध भी आवश्यक है और अहल्या-उद्धार भी। लेकिन ये दोनों कार्य जीव की भूमिका में रहकर भी किए जा सकते हैं। परन्तु यह जो धनुष तोड़ने का कार्य है, यह जीव की भूमिका में रहकर नहीं किया जा सकता। क्यों? यह धनुष क्या है? यह धनुष है भगवान शंकर का। भगवान शंकर कौन हैं ? ध्यान रखिएगा, भगवान शंकर को 'मानस' में समष्टि अहंकार का देवता बताया गया है। यह धनुष का प्रसंग 'मानस' में भी है और 'भागवत' में भी। कंस की सभा में भी धनुष है। श्रीकृष्ण जब कंस की सभा में गये, तो वहाँ पर एक विशाल धनुष रखा हुआ था और भगवान राम जब जनक की सभा में गये तो वहाँ भी एक धनुष रखा हुआ था। कंस भी चन्दन-पुष्प से धनुष की पूजा करता था और जनक भी पूजा करते थे। परन्तु दोनों में अन्तर क्या था? अन्तर था दोनों के स्वभाव में। यह बड़े महत्व का सूत्र है। कार्य समान होते हुए भी भाव में अन्तर होने पर फल में भी अन्तर आ जाता है।

महाराज जनक महान तत्त्वज्ञ हैं, तो कंस उतना ही बड़ा देहाभिमानी है। कंस देहाभिमान का मूर्तिमान प्रतीक है, जिसके लिए सबसे बड़ी वस्तु यह देह है और वह बस इसी को नाश से बचाना चाहता है। महान देहवादी कंस का चरित्र ही देहवाद का सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त है।

कंस की बहन देवकी का विवाह वसुदेव के साथ हुआ। जब बहन की विदाई होने लगी और सारथी रथ लेकर आया तो कंस ने कहा – जिस रथ पर मेरी बहन और बहनोई बैठेंगे, उसे मैं स्वय चलाऊँगा। उसने सारथी को रथ से उतरने का आदेश दिया और स्वयं सारथी के स्थान पर बैठ गया। वसुदेव को लगा कि कंस कितना सज्जन और निरभिमानी है, जो मुझे रथ पर बिठाकर स्वयं सारथी के जगह बैठकर रथ हाँक रहा है! वह मुझे कितना सम्मान दे रहा है! तभी अचानक आकाशवाणी हुई और कंस की सज्जनता की कलई खुल गई। आकाशवाणी हुई – रे मूर्ख, जिसे तू रथ पर बिठाकर ढो रहा है, उसी के गर्भ से जो आठवाँ पुत्र होगा, जिससे तेरा नाश हो जायगा। इसका परिणाम क्या हुआ? यद्यपि पढ़कर बड़ा आश्चर्य-सा लगता है। यहाँ पर इस आकाशवाणी की क्या आवश्यकता थी? भगवान देवकी के गर्भ से जन्म लेते और कंस को मार देते। यह सब आज ही कंस को बता देने की क्या आवश्यकता थी? इस आकाशवाणी के पीछे एक उद्देश्य तो यह था कि कंस को पहचानने में वसुदेव को जो भ्रम हो गया था, उसे दूर करना आवश्यक था। व्यक्ति जब बुराई को अच्छाई मान लेगा, तो धोखा खायेगा। दूसरा तात्पर्य यह कि भगवान ने सोचा – जिसके घर में मैं जन्म लेनेवाला हूँ, उसके रथ का सारथी क्या कंस ही होगा?

दो सारथी हैं, यहाँ कंस और महाभारत में शल्य। शल्य पुण्याभिमान का प्रतीक है और कंस देहाभिमान का। ईश्वर के रथ की बागडोर क्या देहाभिमान के हाथ में रहेगी? आकाशवाणी हुई और उसे सुनकर कंस रथ से उतर गया और देवकी के केश पकड़कर उसे नीचे खींच लिया। उसका गला काट लेने के लिए उसने तलवार उठा ली। अपने देह को बचाने के लिए बहन का सिर काट लेने में भी उसे संकोच नहीं है। यह है घोर देहाभिमान। बाहर से सज्जन दिख रहा था, बड़ा भक्त दिखाई दे रहा था। श्रीकृष्ण जब मथुरा गये, तो उन्होंने देखा कि उनका मामा पूजा कर रहा था। किस देवता की पूजा कर रहा था? वह धनुष की पूजा करता था। यह बहुत बढ़िया बात है। जो कंस के समान देहाभिमानी होते हैं, उनका इष्टदेव बहुधा यह धनुष ही होता है। यह धनुष क्या है? धनुष है अहंकार। देहाभिमानी व्यक्ति अहंकार की ही पूजा करता है। अहं ही उसका देवता है।

जनकजी और कंस के धनुषों के बीच एक बड़ा सूक्ष्म अन्तर है। कंस के धनुष के आसपास पहरेदार खड़े हैं कि कोई उस धनुष को छू न सके, वहाँ तक कोई पहुँच न सके। वहाँ तो श्रीकृष्ण को जबरदस्ती घुसकर उस धनुष को तोड़ना पड़ा। इसका अभिप्राय क्या है? देहाभिमानी अभिमान की पूजा करता है और उसके मन में एक ही चिन्ता रहती है कि उसका अभिमान टूटने न पावे। इस दृष्टि से विचार करके देखें कि हममें से कितने लोग कंस-वृत्तिवाले हैं। हम लोग तो भगवान से प्रार्थना भी यही करते हैं कि हे भगवान, यह धनुष टूटने न पावे, आप हमारे इस धनुष की रक्षा करें अर्थात् आप हमारे अभिमान की रक्षा करें। इस अभिमान को बचाए रखना ही मानो हमारा एकमात्र उद्देश्य है। हमेशा यही चिन्ता

है कि कहीं अभिमान टूट न जाय। वह तो भगवान श्रीकृष्ण उसे बलात् तोड़ देते हैं।

धनुष भगवान राम भी तोड़ते हैं परन्तु लीला में थोड़ा भेद है। विश्वामित्र श्रीराम को लेकर जनक के मण्डप में गये। उनसे धनुष तोड़ने के लिए कहा गया, लेकिन इधर तो भगवान श्रीकृष्ण को जबरदस्ती घुसकर धनुष तोड़ना पड़ा। कंस के सैनिकों से उन्हें लड़ना पड़ा और कंस के उस धनुष को तोड़कर उसके टुकड़ों से ही उन्होंने सबको मार डाला।

इन दोनों धनुषों में भी एक अन्तर है। कंस का धनुष है व्यष्टि अहंकार और महाराज जनक के मण्डप में जो रखा हुआ है, वह भगवान शंकर का धनुष है। भगवान शंकर समष्टि अहंकार के देवता हैं। शिव का धनुष अर्थात् समष्टि अहंकार। एक है व्यक्ति का अहंकार और दूसरा है विराट् का अहंकार। कंस की सभा में रखा गया धनुष व्यक्ति का अहंकार है और जनकजी की सभा में रखा गया जो शिव का धनुष है, वह समष्टि का अहंकार है। जनकजी उस धनुष की पूजा करते हैं। व्यष्टि अहंकार त्याज्य है, उसका तो पूरी तौर से परित्याग करना चाहिए, परन्तु समष्टि अहंकार या विराट् की पूजा करना तो प्रत्येक श्रेष्ठ आचरण करने वाले व्यक्ति का कर्तव्य है। इस क्षुद्र अहंकार के स्थान पर जो समग्र जाति, समग्र समाज, समग्र देश और समग्र ब्रह्माण्ड का जो 'मैं' है, वह पूज्य है। लेकिन अन्त में न व्यष्टि अहंकार रह जाता है और न समष्टि अहंकार। जो कंस के समान देहाभिमानी हैं, वे यही चाहते हैं कि हमारा अभिमान न टूटे। परन्तु महाराज जनक धन्य हैं, जो यह चाहते हैं कि अब यह शिव का धनुष अर्थात समष्टि अहंकार भी टूट जाय।

यद्यपि उनका कार्य ऐसा था कि परशुरामजी ने कहा कि तुमसे बढ़कर मूर्ख मैंने नहीं देखा। उन्होंने कहा – अरे मूर्ख जनक, यह धनुष किसने तोड़ा? –

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥ १/२७०/३

कहा जा सकता था – महाराज, तोड़नेवाले को बुरा-भला कहिए, जनकजी को जड़ क्यों कह रहे हैं? बोले – पहली जड़ता तो इसी की है। जीवन भर जिसकी पूजा करता रहा, अन्त में उसी को तुड़वा दिया। या तो पूजा न करता और करता था, तो पूज्य वस्तु को बचाना चाहिए था। परन्तु यह कितना बड़ा मूर्ख है, जिसकी पूजा करता था, उसी को तुड़वा दिया। इसको प्रतिज्ञा करना था, तो क्या यही प्रतिज्ञा करना था? अरे भाई, धनुष के द्वारा तुम्हें परीक्षा लेनी थी, तो धनुष चलाकर लक्ष्यवेध करने के लिए कहता। धनुष तुड़वाकर यह तूने क्या परीक्षा ली? परन्तु जनकजी ने मन-ही-मन कहा – महाराज, लक्ष्यवेध की परीक्षा कैसे लेता? शंकरजी ने तो केवल धनुष ही दिया, बाण तो दिया नहीं था। यदि उन्होंने बाण भी दिया होता, तो मैं धनुष पर बाण चढ़ाकर लक्ष्यवेध करने को कहता। परन्तु बाण न होने पर धनुष के द्वारा परीक्षा तो उसे तोड़कर ही ली जा सकती है। जब धनुष चलाने के काम का न रह जाय, तब उसका टूटना ही बाकी रह जाता है। उसकी अन्तिम परिणति तो यही है। इसका अभिप्राय यह है कि समष्टि अहं के सामने व्यष्टि अहं का त्याग और अन्त में चूँकि समष्टि अहं के सामने भी व्यष्टि के समूह का भाव बना रहता है, व्यक्तित्व का लगाव बना रहता है, इसलिए जीवन भर उसका पूजा करने के बाद उसका भी विसर्जन आवश्यक है। अतः यद्यपि कंस के समान देहाभिमानी डरते रहते हैं कि कहीं

मेरा अभिमान नष्ट न हो जाय, परन्तु जनक जैसे महान ज्ञानी कहते हैं - नहीं नहीं, यह समष्टि अहंकार भी अब भगवान के चरणों में अर्पित हो जाय, यह भी अब टूट जाय।

लेकिन प्रश्न अब यह है कि इस समष्टि अहंकार को तोड़ेगा कौन? इसका विसर्जन कौन करेगा? क्या जीव इसे कर सकता है? जनक की सभा में तो ऐसे बहुत से जीव आए थे, जो धनुष तोड़ने का दावा कर रहे थे, परन्तु तोड़ पाए क्या? कोशिश तो बहुत की पर हर्ष और विषाद के चक्कर में ऐसे पड़े कि तोड़ना तो दूर, उस धनुष को हिला पाना भी सम्भव न हुआ। वे सभी राजा जीव थे, जो अपना अपना व्यष्टि अहंकार लेकर आए थे। ज्यों ही यह घोषणा हुई कि जो धनुष को तोड़ेगा, उसे सीताजी मिलेंगी। राजाओं में हर्ष की लहर दौड़ गई। क्यों? कल्पना मात्र से कि मैं तोड़ूँगा और सीता मुझे मिलेंगी। कल्पना का सुख राजाओं ने मन में पा लिया। हर्षित होकर उठे, अपने अपने इष्टदेव का स्मरण किया, प्रार्थना की कि धनुष मुझसे तुड़वा दीजिए। परन्तु वहाँ विडम्बना यह थी कि एक गणेशजी का भक्त प्रार्थना कर रहा था कि धनुष मुझसे टूट जाय, तो पीछे हजारों राजा, जो गणेशजी के भक्त थे, वे प्रार्थना कर रहे थे कि इससे धनुष न टूटे। अब गणेशजी किसकी बात मानें? एक की बात मानें या हजार की? इसका अभिप्राय क्या है? व्यष्टि अहंकार की टकराहट हो रही है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मेरे स्वार्थ की पूर्ति हो और दूसरा व्यक्ति असफल रहे। परन्तु जब उस व्यष्टि अभिमानी राजा से नहीं टूटा, तो लौटते हुए उसने गणेशजी से दुख प्रगट किया – महाराज, इतने दिनों तक मैंने आपकी पूजा की और आपने इतनी भी कृपा नहीं की। ठीक है, अब इतनी कृपा तो अवश्य ही कर दीजिए कि मुझसे नहीं टूटा, तो अब यह किसी से न टूटे। हमें सुख न मिले तो कोई बात नहीं, परन्तु संसार में किसी को भी सुख न मिले। हमें कीर्ति न मिले तो न सही, पर किसी दूसरे को भी न मिले। यही क्षुद्र अहंकार की वृत्ति उन राजाओं में दिखाई दे रही है।

जब धनुष किसी से नहीं टूटा, तो राजा लोग प्रसन्न हो गये – चलो अच्छा हुआ। परन्तु भगवान राम से जब धनुष टूट गया, तो इन राजाओं के विषाद की सीमा न रही कि हमारी इतनी पूजा व्यर्थ गई और एक राजकुमार के द्वारा यह धनुष टूट गया। अपने अपने इष्टदेव को उन्होंने उलाहना दिया कि यह आपने क्या किया, एक छोटी उम्र के राजकुमार से धनुष तुड़वा दिया। राजाओं के मन में कभी हर्ष और कभी विषाद होता है, पर गोस्वामीजी ने अन्त में एक बड़ा मधुर व्यंग्य किया। इस विषाद के बाद एक बार फिर इनको बड़ा हर्ष हुआ। कब? जब परशुराम आए और उन्होंने कहा कि जिसने धनुष तोड़ा है, उसका मैं सिर काट लूँगा। तब ये राजा बड़े प्रसन्न हुए और अपने अपने इष्टदेव को धन्यवाद देते हुए कहा – बड़ा अच्छा किया, हमसे नहीं तुड़वाया। आप यदि हमसे तुड़वा दिए होते, तो आज ये हमारा सिर काट लेते। इस तरह से उनके मन में हर्ष और विषाद की वृत्ति चल रही है।

दो व्यक्तियों का हर्ष और विषाद टकराता है। हम किसी वस्तु को पाकर प्रसन्न होते हैं, परन्तु जब हम पाते हैं तो उसे किसी से छीनकर, किसी को उससे वंचित करके पाते हैं। यही टकराहट सारे समाज की है। दूसरे का विषाद ही हमारा हर्ष बन गया है। जब दूसरे का विषाद हमारा हर्ष बनेगा, तो दूसरा भी चेष्टा यही करेगा कि अपने हर्ष के लिए हमारे हर्ष को

छीनेगा। यही राजाओं की मनोवृत्ति है। यह धनुष टूटेगा किससे? जीव इसे नहीं तोड़ सकता। जीव यदि बहुत करेगा, तो समष्टि अहंकार के प्रति स्वयं को समर्पित कर देगा, परन्तु व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि को भी समाप्त कर देना जीव के लिए सम्भव नहीं है। किसके लिए सम्भव है? श्रीराम के लिए, परन्तु वे भी व्यक्ति-भाव से इसे नहीं कर सकते। व्यक्ति-भाव से यदि श्रीराम धनुष तोड़ने चलते, तो फिर वही समस्या उठती – मैं के द्वारा मैं कैसे टूटेगा? तोड़नेवाला बनकर कोई उसे तोड़ ही नहीं सकता, क्योंकि जहाँ तोड़नेवाला होगा, वहाँ 'मैं' तो रह ही गया। इसलिए वहाँ लिखा हुआ है कि जब गुरुजी ने कहा –

उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा।। १/२५४/६

– 'हे राम! उठो, शिवजी का धनुष तोड़ो और जनक का कष्ट दूर करो।' शंकर जी का यह धनुष भव का प्रतीक है और समष्टि अहंकार का भी प्रतीक है। जनक का कष्ट दूर कब होगा? उन्होंने समर्पण की वृत्ति अपना ली है। वे सीता के समर्पण के लिए, समष्टि अहंकार के विसर्जन के लिए व्यग्र हैं। राम, तुम इसे पूरा करो। यही ईश्वर की भूमिका है। तब –

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा।।
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ। ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ।। १/२५४/७-८

– गुरु के वचन सुनकर श्रीराम ने उनके चरणों में शीश नवाया। उनके मन में न हर्ष था, न विषाद। वे मानो युवा सिंह को भी लजाते हुए अपने सहज स्वभाव से उठ खड़े हुए। और अन्त में जब धनुष टूटा तो तोड़नेवाला कोई था? –

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें।। १/२६१/७

किसी ने उन्हें धनुष को उठाते, चढ़ाते या तोड़ते नहीं देखा। सबने केवल उन्हें खड़े देखा। इसीलिए तो जब परशुराम आते हैं और पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा, तो समस्या उत्पन्न हो जाती है। अब भाषा में तो यही कहा जाता है कि श्रीराम ने तोड़ा। लेकिन स्वयं भगवान राम की अनुभूति क्या है? उनमें कर्त्तृत्व का लेश तक नहीं है – न हर्ष है और न विषाद। ईश्वर के द्वारा समष्टि अहंकार का विसर्जन कर दिया गया और सभा में क्या दिखाई दिया? किसी ने भी उन्हें धनुष तोड़ते हुए नहीं देखा – **काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें।**

आगे चलकर जब परशुरामजी ने कहा – राम, धनुष तोड़कर तुम्हें अभिमान तो अवश्य हुआ होगा। भगवान को हँसी आ गई। बोले – महाराज, अगर मुझमें अभिमान आ जाता, तो धनुष टूटता ही नहीं। अभिमान के रहते अभिमान टूटेगा कैसे? इसलिए महाराज, मैंने तोड़ा नहीं, यह तो अपने आप टूट गया –

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। १/२८३/८

धनुष टूटा, परन्तु तोड़नेवाला कोई नहीं है। कर्म हुआ, परन्तु कर्ता कोई नहीं है। यही ईश्वरत्व की भूमिका है –

सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्री रघुबीरु।। १/२७०

भगवान राम के मन में न तो धनुष तोड़ने के पूर्व हर्ष-विषाद है और न धनुष टूटने के बाद। जहाँ भी उपलब्धि की आकांक्षा होती है, वहीं हर्ष होता है और जहाँ भी खोने का

भय रहता है, वहीं विषाद होता है। परन्तु जहाँ श्रीराम अपने नित्य स्वरूप में स्थित हैं, सीताजी उनकी अभिन्न शक्ति हैं, जो उन्हें लोक-दृष्टि से प्राप्त हो रही हैं, वहाँ स्वयं राम अपने स्वदृष्टि से हर्ष और शोक से मुक्त हैं। यह ईश्वर की स्थिति है।

इसे देखकर जीव भी साधना के द्वारा इस द्वन्द्व से मुक्त हो जाय। इस द्वन्द्व से मुक्त होने की जो साधना है, रामायण में वह भरतजी के जीवन में है। भरतजी जब अयोध्या से चित्रकूट की ओर चलते हैं, तो उनकी यात्रा हर्ष-विषाद से आरम्भ होती है। और अन्त मे जब वे चित्रकूट पहुँचते हैं, तो उनकी यात्रा की अंतिम परिणति कहाँ होती है? श्रीभरत भगवान राम से मिलने के लिए आए हुए हैं। यह जीव और ब्रह्म का मिलन है। अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा और उस यात्रा की अन्तिम परिणति क्या है? भगवान राम ने निर्णय कर लिया कि अगर भरत को जीव बनाकर मैं हृदय से लगाऊँगा, तो पक्का मिलन हो ही नहीं सकता। जीव का ब्रह्म से मिलन होगा, तो वह अधूरा मिलन होगा। पूर्ण का पूर्ण से मिलन होना चाहिए, तभी मिलन पूर्ण होगा। इसीलिए भगवान निर्णय कर लेते हैं कि पहले तो भरत को राम बनाना है और उसके बाद न भरत भरत रह जायँ, न राम राम रह जायँ; सारी उपाधियाँ मिट जाय। उपाधियाँ मिटाकर मिलन हो, तो उसकी पराकाष्ठा क्या है?

श्रीभरत की यात्रा हर्ष और विषाद के साथ आरम्भ होती है। पहले भगवान श्रीराघवेन्द्र की ओर जाने का हर्ष, कैकेयी के कर्मों का विषाद, परन्तु भरतजी के जीवन में हर्ष और विषाद का कितना सुन्दर सदुपयोग है! गोस्वामीजी उसका क्रम बताते हैं –

करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगीं परमारथु पावा॥ २/२३९/३

श्रीभरत ने ज्योंही चित्रकूट के आश्रम में प्रवेश किया, त्योंही उनका दुख मिट गया। कैसे? बोले – जैसे किसी योगी ने परमार्थ की उपलब्धि कर ली हो। गोस्वामीजी से कहा गया – यही तो अन्तिम स्थिति है, अब इससे आगे बढ़कर तो कुछ है नहीं। गोस्वामीजी ने कहा – नहीं, अभी तो भरतजी का दुख दूर हुआ, योगी के जीवन से दुख दूर हुआ, परन्तु यदि सुख की अनुभूति शेष रह गई, तो फिर से दुख के आगमन की सम्भावना बनी रहेगी। इसलिए आगे चलकर भरतजी की क्या स्थिति है? भगवान राम से जब भरतजी मिलते हैं, तो उसके पहले वही स्थिति हो जाती है, जो श्रीराम की है – **हरष विषाद न कछु उर आवा** – यह राम की स्थिति है। और भरत की स्थिति क्या है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि भरतजी जिस समय भगवान राम के चरणों में प्रणाम करते हैं, उस समय –

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥ २/२४०/१

भरत के मन में न तो हर्ष था न विषाद, न दुख था न सुख। क्यों? बात यह है कि भरतजी को वन में जाते हुए देखकर गाँव की स्त्रियों के मन में यह आया कि कहीं ये राम ही तो नहीं जा रहे हैं? यह जीव और ब्रह्म का सादृश्य है। परन्तु पैनी दृष्टिवाली स्त्रियों ने कहा – नहीं सखी, कुछ अन्तर दिखाई दे रहा है। – क्या? – इनमें अन्तर यह दिखाई दे रहा है कि उनके साथ सीताजी थीं और इनके साथ नहीं हैं। तो कहा गया – सीताजी को छोड़कर आ सकते हैं। फिर कहा – उनके साथ सेना नहीं थी, इनके साथ चतुरंगिणी सेना है। तो

कहा गया – सेना लेकर आ सकते हैं। तब सखी ने कहा कि एक भेद ऐसा है, जो इन दोनों में बड़ा भीतरी है। वह कौन-सा भेद है? बोले –

नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहिं भेदा॥ २/२२२/४

राम के मुख पर एकरसता थी और इनके मुख पर विषाद है। इसी से पता चल गया कि ये राम नहीं, कोई और हैं। भगवान राम ने क्या सोचा? चित्रकूट में भरत से मिलने से पहले सोचने लगे कि जब मैं भरत को हृदय से लगाऊँगा और किसी ने पहचान लिया कि यह जो एकरस है वह राम है और जो एकरस नहीं है वह भरत है, तो मिलन पक्का कहाँ हुआ? तब तो दूसरों ने भेदकर लिया, पहचान लिया। यही ब्रह्म और जीव के बीच का अन्तर था। भगवान राम भरत से उस भेद को मिटा देते हैं। श्रीभरत जब द्वन्द्व से मुक्त हो जाते हैं, तब राम और भरत का मिलन, ब्रह्म और जीव के मिलन की समग्रता प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार विषयी की मनोवृत्ति से लेकर साधक और सिद्ध की मनोवृत्ति तक अन्त में हर्ष और विषाद से मुक्त हो जाना, ईश्वर की प्राप्ति के बाद द्वन्द्व से मुक्त हो जाना – इसी में जीवन की चरम सार्थकता है। जब व्यक्ति ईश्वर से मिलकर एकाकार हो जाता है, तभी वह सच्चे अर्थों में स्वस्थ होता है। इसीलिए कागभुशुण्डि जी कहते हैं कि हर्ष और विषाद भी बड़े जटिल रोग हैं और व्यक्ति को इन दोनों से मुक्त होना है। **□(क्रमशः)□**

ईश्वर की चाह

हमें हवा की आवश्यकता है, भोजन की आवश्यकता है, कपड़ों की आवश्यकता है; इनके बिना हम जी नहीं सकते। जब हमें ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा ही लगने लगे, तभी हम भक्त बनते हैं। इसलिए पहली सीढ़ी यह है कि हम चाहते क्या है? हम प्रतिदिन स्वयं से प्रश्न करें कि क्या हमें ईश्वर चाहिए?

प्रतिदिन हम अपने आपसे यही प्रश्न करें - क्या हमें ईश्वर को प्राप्त करने की लालसा है? मैं अनेक बार देखता हूँ कि मुझे ईश्वर की चाह नहीं है; मुझे रोटी की चाह उससे अधिक है। यदि मुझे एक टुकड़ा रोटी न मिले, तो मैं पागल हो जाऊँगा। हीरे के पिन बिना बहुत-सी महिलाएँ पागल हो जाएँगी। परन्तु उन्हें ईश्वरप्राप्ति के लिए उस प्रकार की लालसा नहीं है।

अत: हमारी पहली आवश्यकता है - व्याकुलता।

– स्वामी विवेकानन्द
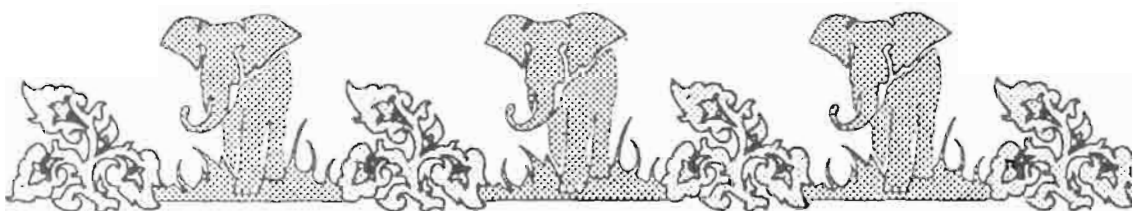
माँ के सान्निध्य में (५३)

सुरेन्द्रनाथ सरकार

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी के प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद अनेक वर्षों से विवेक-ज्योति में प्रकाशित हो रहे हैं । इस बीच अब तक प्रकाशित अंश 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं । प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद । – सं.)

राधू एक दिन बीमारी से छटपटा रही थी । माँ ने कहा, "देखो तो बेटा, इसे क्या हुआ है?" मुझे कोई नाड़ी-ज्ञान नहीं था, तो भी माँ को आश्वस्त करने के लिए मैंने राधू की नाड़ी देखकर कहा, "विशेष कुछ नहीं है, बस थोड़ी दुर्बलता हुई है । थोड़ा-सा दूध पिला दो ।" माँ का बच्चों जैसा स्वभाव था, वे तत्काल उसे दूध पिलाने बैठीं । थोड़ी देर बाद राधू की माँ आकर राधू के पास बैठ गयीं । इससे राधू बड़ी परेशान हो उठीं, क्योंकि वह नहीं चाहती थी कि उसकी माँ उसके पास रहे । माँ ने राधू की माँ को थोड़ा खिसका देने की इच्छा से हाथ से ढकेलते हुए बोलीं, "तुम अभी जाओ न ।" इससे सहसा श्रीमाँ का हाथ राधू की माँ के पाँव से लग जाने पर वे अत्यन्त अस्थिर होकर बोल उठीं, "तुमने क्यों मेरे पाँव पर हाथ लगाया? मेरा क्या होगा, जी!" उनका वह भाव देखकर माँ की हँसी थमने का नाम ही नहीं ले रही थी! रासबिहारी दादा पास में ही थे, बोले, "माँ, देखा न, कहाँ तो पगली तुम्हें इतना गाली देती है, मारने आती है; परन्तु उसके पाँव से तुम्हारा हाथ लग जाने पर वह बड़ी डर गयी है ।"

माँ ने कहा, "बेटा, रावण क्या जानता नहीं था कि राम पूर्ण ब्रह्म नारायण और सीता आद्याशक्ति जगदम्बा हैं – तो भी वह वही करने तो आया था! वह (पगली) क्या मुझे नहीं जानती! सब जानती है, तो भी वह यही करने आयी है!"

माँ के पाँवों में (होनेवाले) वात की पीड़ा का उल्लेख करते हुए मैंने कहा, "माँ, सुनता हूँ कि भक्तों के पाप ग्रहण करके ही तुम्हें यह बीमारी हुई है । मेरा एक हार्दिक अनुरोध है – तुम मेरे लिए कष्ट मत भोगना; मेरे कर्मों का भोग मेरे स्वयं के द्वारा ही करा लो ।"

माँ – यह क्या बेटा, यह क्या बेटा, तुम लोग अच्छे रहो, मैं ही भोगूँ ।

अहा! उस समय मुझे माँ की एक क्या ही अभूतपूर्व करुणा-मूर्ति देखने को मिली!

जयरामबाटी से प्रस्थान करते समय मैंने जाकर माँ को प्रणाम किया । उन्होंने मेरे सिर पर जप किया और स्नेहपूर्वक बोलीं, "अहा! इन लोगों की इच्छा है कि मेरे पास ही रहें, परन्तु क्या करेंगे, इन्हें संसार के अनेक कार्य करने पड़ते हैं ।"

लड़का परदेश जाने के समान वे थोड़ी दूर तक साथ साथ आयीं और सजल नेत्रों से देखती रहीं ।

***   ***   ***

एक बार मैं तीन सप्ताह कलकत्ते में रहा । उस समय बागबाजार में श्रीमाँ के घर जाकर उनका दर्शन तथा उन्हें प्रणाम करने के बाद मैंने कहा था, "माँ, थोड़े दिन कलकत्ते में

रहूँगा । यहाँ केवल सप्ताह में दो दिन ही तुम्हें प्रणाम करने का नियम है । यदि अनुमति दो, तो बीच बीच में आऊँगा ।''

माँ – जरूर आना । जब भी सुविधा हो आना, मुझे सूचना भेज देना ।

एक दिन जाकर मैंने कहा, ''माँ, मुझे शान्ति नहीं मिलती । मन सर्वदा चंचल रहता है – काम जाता नहीं ।'' यह सुनकर माँ काफी देर तक एकटक मेरी ओर देखती रहीं, कुछ कहा नहीं । माँ का मुख देखकर मुझे आत्मग्लानि हुई – माँ से क्यों मैंने यह सब कहा! उनकी चरणधूलि लेने के बाद मैं गुरुप्रसाद चौधरी लेन में स्थित मास्टर महाशय के घर पहुँचा । मास्टर महाशय को प्रणाम करने के बाद मैंने कहा, ''मेरा सिर गरम है । आपने ठाकुर की बहुत चरणसेवा की है, आप मेरे सिर पर थोड़ा हाथ फिरा दीजिए ।''

वे बोले, ''यह क्या? आप माँ की सन्तान हैं, माँ आपको बड़ा स्नेह करती हैं । आप भला मुझसे क्या याचना करेंगे? क्या माँ ने आपके ऊपर दृष्टि नहीं डाली?''

मैं – हाँ, काफी देर तक मेरी ओर देखा है ।

मास्टर महाशय – तब फिर क्या है? 'यदि श्यामा किसी के ऊपर दृष्टि डालती है, तो वह सदा आनन्द में तैरता रहता है ।

बड़े आवेगपूर्वक उन्होंने तीन बार यही बात कही । अब मैं माँ का काफी देर तक एकटक देखते रहने का मर्म समझ गया था । मैं शान्त हुआ । मन में आया – माँ ने मानो अपनी कृपादृष्टि का अर्थ समझाने के लिए ही मुझे मास्टर महाशय के पास भेजा है ।

एक दिन भोर में (के समय) अपनी पत्नी तथा एक पुत्री को श्रीमाँ के पास ले जाकर मैं बोला, ''माँ, ये लोग सर्वदा आ नहीं पातीं । आज ये सारे दिन तुम्हारे पास रहेंगी, मैं शाम को आकर ले जाऊँगा ।''

माँ – ठीक है, बहुत अच्छा ।

मेरी पत्नी के मस्तक पर सिन्दूर नहीं था । भक्त-महिलाओं में से किसी एक ने पूछा था, ''क्यों जी, तुम्हारे मस्तक पर सिन्दूर क्यों नहीं है?'' यह सुनकर माँ ने कहा था, ''तो क्या हो गया? उसका पति साथ में है, नहीं भी लगाया तो क्या!'' इतना कहकर माँ ने स्वयं ही उसके सिर पर सिन्दूर लगा दिया ।

मेरी पत्नी के मन में आया – यदि माँ अनुमति दें, तो उनकी पदसेवा करूँगी । माँ ने थोड़ी देर बाद उससे कहा, ''आओ बहू, मेरे शरीर तथा सिर पर तेल मल दो ।'' तेल लगाने के बाद कंघी से बाल ठीक करते समय उसके मन में इच्छा हुई थी, ''यदि वे इनमें से कुछ बाल ले जाने की अनुमति दें, तो ले लूँ ।'' माँ ने हल्की-सी हँसी के साथ स्वयं ही कहा, ''यह लो, बेटी ।'' इसके बाद कंघी से लगे हुए बाल छुड़ाकर उन्होंने उसके हाथ में दे दिये ।

एक महिला-भक्त ने पूछा था, ''यह बहू कौन है, माँ?''

माँ – राँची में सुरेन रहता है न, उसकी बहू है । सुरेन का ठाकुर पर अगाध विश्वास है ।

उस दिन माँ उसे साथ लेकर गंगास्नान को गयीं । हम लोग माँ के लिए जो गमछा तथा वस्त्र ले गये थे, ब्रह्मचारियों ने उन्हें बहुत-से नये कपड़ों के भीतर रख दिया था । परन्तु माँ

ने उनके भीतर से हमारे दिये हुए वस्त्र तथा गमछे को लेकर ही स्नान करने गयीं। गंगास्नान के बाद घाट के ब्राह्मण को एक पैसा देकर माँ बोलीं, "बहू को चन्दन लगा दो।" भोजन के समय उन्होंने अपने पत्तल से प्रसाद निकालकर उसे दिया और भोजन के उपरान्त विश्राम के समय उसे पदसेवा करने को कहा। मेरी पुत्री ने एक कम्बल में सोकर उसे गन्दा कर दिया। मेरी पत्नी के उसे धो देने को उद्यत होने पर माँ ने उसके हाथ से उसे छीन लिया और स्वयं ही उसे धो लायीं। पत्नी ने पूछा था, "माँ, तुम क्यों धोओगी?" माँ ने उत्तर दिया था, "क्यों नहीं धोऊँगी, वह क्या मेरा पराया है?"

शाम को मैंने 'उद्बोधन' कार्यालय में जाकर देखा कि वहाँ केवल उपेन बाबू ही हैं। सुना कि बाकी सभी लोग विवेकानन्द सोसायटी के कार्यक्रम में गये हैं। मेरे स्वयं ही ऊपर चढ़कर माँ को प्रणाम करने जाने पर वे बोले, "देखो, आज कोई लड़के नहीं हैं, भक्तों के दर्शन का दिन है। आज तुम्हीं सबको बुला लाना और प्रसाद बाँट देना।" थोड़ी देर बाद मैं भक्तों को बुला लाया और प्रणाम के उपरान्त उनमें प्रसाद का वितरण किया। क्रमश: भक्तगण चले गये।

माँ ने कहा, "आज तुम मेरे घर के लड़के हो गये हो – सबको बुला आये और प्रसाद दिया।

मैं – क्यों, क्या मैं तुम्हारे घर का लड़का नहीं हूँ?

माँ – हाँ, सो तो हो ही – तुम मेरे अपने लड़के हो।

इतना कहने के बाद वे मेरी पत्नी से बोलीं, "हाँ बेटी, सभी मेरे बच्चे हैं, परन्तु किसी किसी के साथ विशेष सम्पर्क है। इसके साथ विशेष सम्पर्क है। देखती हो न, सर्वदा आता-जाता रहता है, खूब अपना है।"

इसके बाद हम लोगों को प्रसाद तथा पान देने के बाद माँ हम लोगों की ठोढ़ी पकड़कर सस्नेह बोलीं, "और भय की क्या बात है? खूब सहज हो गये हो न? तुम लोगों का यही आखिरी जन्म है।"

मैंने कहा, "सहज क्यों नहीं होगा? तुम्हारी कृपा होते ही सब सहज हो जाता है।"

मेरी पत्नी श्रीमाँ के लिए एक आसन बनाकर ले गयी थी। उसे पाकर माँ को बड़ा आनन्द हुआ; सबको दिखाते हुए कहने लगीं, "अहा! देखो, बहू ने कितना सुन्दर आसन बनाया है!" भक्त से एक छोटी-सी चीज पाकर ही उन्हें इतना आनन्द हो रहा था।

*** *** ***

मैं एक बार और चार अन्य भक्तों के साथ जयरामबाटी गया था। कोयलपाड़ा मठ से हम ऐसे समय रवाना हुए कि शाम होने के पहले ही माँ के घर पहुँच जाने की बात थी। साथ में उसी अंचल का एक कुली भी था। रास्ता मेरा जाना हुआ था, परन्तु माँ के घर के निकट पहुँचकर हम रास्ता भूल गये। कैसे भी हमें रास्ता नहीं मिल रहा था। उस स्थानीय व्यक्ति को भी समझ में नहीं आ रहा था। क्रमश: रात हो गयी। साथ के लोग परेशान थे। उस समय तक हम सभी थक भी गये थे। और कोई चारा न देख मैं बाँस की एक झाड़ी में ही अपना कम्बल बिछाकर बैठ गया। मेरे मन में माँ के ऊपर बड़ा अभिमान हुआ

– "माँ, क्या हमी लोग तुम्हें ढूँढ़ेंगे, तुम कुछ नहीं देखोगी!" तभी देखने में आया कि रासबिहारी दादा तथा हेमेन्द्र[१] हाथ में लालटेन लिए आ पहुँचे हैं। रात के समय उस रास्ते पर उन लोगों के आने पर मैं विस्मित रह गया। वे लोग बोले, "हम लोग के इस तरफ आने की योजना नहीं थी, भाग्यवश ही इस रास्ते पर आ पड़े हैं।" श्रीमाँ का दर्शन तथा उन्हें प्रणाम करने के बाद उन्होंने हम लोगों से पूछा, "क्यों बेटा, लगता है तुम लोग बहुत भटके हो!"

मैं – हाँ माँ, रास्ता भूल गये थे।

उस समय माँ के लिए नया मकान बन रहा था। उसी कार्य में पूर्वोक्त दोनों ब्रह्मचारी काफी व्यस्त रहा करते थे। सिलहट से दो भक्त आये हुए थे। उनमें से एक पहले अरुणाचल-निवासी स्वामी दयानन्द के भक्त थे। वे इन्हें प्रह्लाद का अवतार बताकर अपने भक्तों के बीच प्रचारित किया करते थे। मैं उन दोनों भक्तों को श्रीमाँ के पास ले गया। उन लोगों के प्रणाम करने के बाद मैं बोला, "माँ, अरुणाचल में दयानन्द नाम के एक साधु स्वयं को अवतार कहते हैं, यह उन्हीं का भक्त था। वे कहते थे कि यह प्रह्लाद है।" माँ ने हँसते हुए उत्तर दिया, "अवतार ही तो है!"

इसके बाद माँ ने उन दोनों भक्तों को दीक्षा प्रदान की।

मैंने एक अन्य साधु का नाम लेकर कहा कि वे भी बहुत-से लोगों को दीक्षा दे रहे हैं। माँ बोलीं, "ये लोग काफी-कुछ व्यवसायी साधु हैं। तो भी, कौन जाने, इससे भी भला ही होगा। मनुष्य (स्वयं) तो कुछ करता नहीं है, इन लोगों की बात से कुछ-न-कुछ भगवान का नाम लेगा।"

"(भाव) आन्तरिक हुआ तो अन्ततः क्रमशः यहीं आ पहुँचेगा। देखते हो न, इस समय तारक-ब्रह्म नाम की धूम मची हुई है। थोड़ा भी सार रहा, तो कोई छूटेगा नहीं।"

माँ ने हमारे साथ के चार भक्तों को दीक्षा दी थी। उनमें से एक बालक-भक्त को दीक्षा के बाद माँ ने कहा था, "एक सौ आठ बार जप करना।" परन्तु इतने से वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसकी इच्छा हजारों-लाखों में जप करने की थी। माँ ने हल्की मुस्कान के साथ कहा, "अभी तो ऐसा सोच रहे हो – परन्तु उतना कर नहीं सकोगे; कितना काम करना पड़ता है तुम लोगों को! ज्यादा कर सको, तो अच्छा ही है।"

माँ की पूजा करने के लिए एक दिन मैं कुछ कमल के फूल एकत्र कर लाया था। माँ ने कहा, "कुछ सिंहवाहिनी को चढ़ा आओ और कुछ बचाकर रख दो।"

एक भक्त बोले, "सारे फूल आपके चरणों में चढ़ाकर पूजा करेंगे।"

माँ – अच्छा है, ऐसा होगा! यही तो मेरे पाँव हैं, इनकी पूजा!"

मैंने माँ से कहा था, "माँ, ठाकुर कहा करते थे कि शुद्धा भक्ति ही सबका सार है। मुझे आशीर्वाद दो कि मुझे उसी की प्राप्ति हो।" पास में और भी कुछ भक्त थे; माँ मौन बैठी रहीं। धीरे धीरे सबके चले जाने पर माँ ने एकान्त में मुझसे कहा, "वह क्या सबको होता है जी? परन्तु तुमको होगा।"

---

१. ये दोनों ब्रह्मचारी श्रीमाँ के सेवक थे।

माँ ने राधू से कहा था, "राधू, तेरा भैया आया है, प्रणाम कर।" मैंने सोचा, "यह क्या? मैं तो कायस्थ हूँ।" फिर तत्काल मन में आया – "माँ तो हमारा अमंगल नहीं करनेवाली हैं।" तब हम दोनों ने ही एक-दूसरे को प्रणाम किया।

एक दिन बासी भात[२] खाने की इच्छा होने पर मैंने माँ के पास जाकर इसके लिए माँग की। माँ बोलीं, "ठहरो, मैं मिर्च और बड़े तल देती हूँ; तुम्हारे देश (पूर्व बंगाल) में मिर्च खाना बड़ा पसन्द करते हैं।" फिर वे एक लोकप्रिय ग्रामोफोन रेकार्ड की नकल पर – "बत्तीस से एक भी कम नहीं दूँगी" – कहकर माँ खूब हँसने लगीं।

जयरामबाटी में एक अन्य दिन माँ ने कहा था, "बेटा, सारे दिन मैं बड़ा परिश्रम कर (मानो कुस्ती लड़) रही हूँ। भक्त पर भक्त चले आ रहे हैं। इस शरीर से अब और सहन नहीं होता। ठाकुर से कहकर 'राधू राधू' बोलते हुए मन को इसमें लगा रखा है।" मेरे मन में आया – जैसे ठाकुर 'पानी पीऊँगा, चिलम पीऊँगा' आदि कहकर मन को थोड़ा-सा बाह्य जगत् में उतारे रहते थे, यह भी क्या वही बात है? इतने कष्ट उठाकर माँ क्या बहुजन-हिताय शरीर धारण किये हुए हैं?

विदा लेते समय मैंने कहा, "माँ, मेरे समान तुम्हारे लाखों-लाख बच्चे हैं, परन्तु तुम्हारे समान माँ मेरे और नहीं है।" यह बात सुनकर माँ ने सजल नेत्रों से स्नेहपूर्वक मेरी ठुड्डी को स्पर्श करके अपने हाथ को चूमा।

*** *** ***

एक बार माँ की अस्वस्थता के बाद जलवायु-परिवर्तन के लिए उन्हें राँची ले जाने के प्रस्ताव के साथ मैं जयरामबाटी गया। उन दिनों चैत्र का महीना चल रहा था। प्रस्ताव सुनकर माँ ने कहा, "चैत्र के महीने में कहीं जाना नहीं चाहिए। फिर शरत् (स्वामी सारदानन्द) लेने आकर इतने दिन रह गया, अत: कलकत्ते न जाकर अन्यत्र कैसे जा सकती हूँ?"

उन्हीं दिनों स्वामी केशवानन्द के एक बहन की मृत्यु हो गयी थी। मैंने माँ से कहा, "माँ, वृद्धावस्था में केशवान्दजी की माँ को यह शोक हुआ – बड़े खेद की बात है।"

माँ ने कहा, "शोक उसका कुछ नहीं कर सकेगा।"

माँ की बात सुनने के बाद लौटते समय मैंने कोयलपाड़ा में उनका दर्शन करने जाकर देखा कि उनमें शोक का लेश तक नहीं है, वही सदा का हँसमुख भाव बना हुआ है! मैंने सोचा – "स्वयं वशिष्ठ ऋषि को भी शोक हुआ था, पर यहाँ का तो सब कुछ नवीन है!"

*** *** ***

एक बार मैं श्रीयुत् राजेन्द्र मुखोपाध्याय के साथ 'उद्बोधन' भवन में श्रीमाँ का दर्शन करने गया था। हमारा प्रणाम ग्रहण करने के बाद माँ ने हाथ जोड़कर ठाकुर से प्रार्थना की, "ठाकुर, इनकी सारी कामनाएँ पूर्ण करो।"

मैंने कहा, "यह क्या, माँ! सारी कामनाएँ पूर्ण करने पर तो (बचने का) कोई उपाय नहीं! (क्योंकि) मन में बहुत-सी बुरी कामनाएँ भी हैं!"

माँ ने हँसते हुए कहा, "तुम लोगों को उसका भय नहीं है। ठाकुर तुम लोगों को वही

२. गाँवों में भात को रात भर भिगाये रखने के बाद प्रात:काल जलपान के रूप में खाने की प्रथा है।

देंगे, जिसकी तुम्हें आवश्यकता हो और जिससे तुम्हारा कल्याण हो । तुम लोग जो कर रहे हो, किये जाओ । भय की क्या बात? हम लोग तो हैं ही ।''

*** *** ***

जयरामबाटी में एक दिन रात के अन्तिम पहर में लगभग भोर के समय बाहरी कमरे में एक बछड़ा बड़ा चिल्ला रहा था । दूध दूहने के लिए उसे उसकी माँ से दूर बाँधकर रखा गया था । उसकी चिल्लाहट सुनकर माँ यह कहते हुए दौड़ी आयीं – ''आती हूँ बेटा, आती हूँ, मैं अभी आकर तुम्हें छोड़ दूँगी, अभी छोड़ दूँगी ।'' वहाँ जाते ही माँ ने बछड़े के बन्धन खोल दिये । मैंने अवाक् होकर जगदम्बा की सर्वभूतों के लिए करुणामयी मूर्ति देखी । अहा! इसी प्रकार पुकारने से तो बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है ।

श्रीमाँ के अपार स्नेह, असीम करुणा तथा अनन्त दया की बातें लिखकर समझाने की भाषा मेरे पास नहीं है । हम लोग उनके श्रीचरणकमलों के दर्शन, स्पर्शन तथा उनकी कृपा पाकर धन्य हो गये हैं – कुलं पवित्रं जननी कृतार्था । हजारों भक्त उस पारस मणि के स्पर्श से स्वर्ण हो गये हैं । □(क्रमशः)□

कर्तव्य-रसायन

स्वामी सत्यरूपानन्द

२०वीं शताब्दी ही नहीं ईसा की दूसरी सहस्राब्दि भी समाप्ति के कगार पर है । मानव जाति के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर हम यह देख पाते हैं कि मानव समाज में जब कभी जिन-जिन युगों में शान्ति रही है, समाज में समृद्धि रही है, व्यवस्था रही है, उन सभी युगों में विश्व के सभी देशों और समाजों में ऐसे लोगों का बाहुल्य रहा है जो कि कर्तव्य परायण रहे हैं । जिन्होंने कभी अपने अधिकारों की ओर ध्यान नहीं दिया । उनकी कभी चर्चा नहीं की । अधिकार मांगने या प्राप्त करने का उनके जीवन में प्रश्न ही कभी उपस्थित नहीं हुआ । ऐसे कर्तव्य परायण व्यक्तियों द्वारा ही समाज में सुख , शान्ति और समृद्धि स्थापित होती है ।

स्वाधीनता प्राप्ति के ५० वर्षों पश्चात आज हमारे सामने एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित है । स्वाधीन होकर क्या हम उस सुराज की, रामराज्य की स्थापना कर पाये जिसका स्वप्न हमारे स्वाधीनता संग्राम के नेताओं ने देखा था? जिस स्वाधीनता संग्राम के महायज्ञ में हमारे सैकड़ों युवक-युवतियों ने अपने जीवन की आहुति दे दी, उस महायज्ञ के सुफल को क्या हमने सुरक्षित रखा है? क्या हमारी स्वाधीनता जनसाधासण के दुख-दारिद्रय और अज्ञान के अंधकार से मुक्त कर पाई है? क्या हमारा राष्ट्र संगठित होकर उन्नति की दिशा में अग्रसर हो रहा है?

राजनैतिक अस्थिरता, आर्थित विषमता, सामाजिक विगठन, धार्मिक असहिष्णुता, नैतिक अधःपतन आदि को देखने पर तो उत्तर निषेधात्मक ही मिलता है ।

हम अपने स्वाधीनता सेनानियों के स्वप्न तो पूरे कर ही न सके उल्टे हमने उनके अधिकांश स्वप्न भंग ही किये हैं। उतना ही नहीं उनके स्वप्नों के सर्वथा विपरीत आचरण कर आज हमने अपनी अस्मिता को ही संकट में डाल दिया है। हमारे नैतिक मूल्य, हमारी सांस्कृतिक धरोहर ही आज़ मूर्छित है। मरणासन्न है। यह एक तथ्यात्मक कथ्य है। विवाद का विषय नहीं।

अब प्रश्न यह है कि इस संकट से कैसे उबरा जाय? मुमुर्षु नैतिक मूल्यों तथा मूर्छित सांस्कृतिक चेतना को कैसे जगाया जाए?

कानूनों, विधि-विधानों, राजनैतिक प्रयत्न और परिवर्तनों, आर्थिक समीकरणों आदि से यह कर पाना संभव नहीं हुआ यह मध्यान्ह सूर्य के समान स्पष्ट दीख रहा है।

इसका निदान केवल आध्यात्मिक जागृति द्वारा ही संभव है। व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर ही उसे नैतिक पतन से बचाया जा सकता है। एक बार यदि व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से सजग और सावधान हो जाए तो उनकी नैतिक चेतना स्वयं ही जागृत और सक्रिय हो उठती है।

आध्यात्मिक जागरण का प्रथम सोपान है स्वधर्म की पहिचान और उसका आचरण। संसार में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये परमात्मा ने कुछ न कुछ कर्म निर्धारित कर रखे हैं। जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति को कुछ न कुछ कर्म अवश्य करना पड़ता है। कर्म न करने पर हमारी जीवन यात्रा ही न चलेगी। अतः कर्म करना अनिवार्य एवं अपरिहार्य है।

हमारे जन्म, समाज, परिस्थितियों आदि से जो कर्म हमें मिला है उस कर्म के द्वारा ही हम अपनी आध्यात्मिक चेतना को जगाकर अपने समाज और राष्ट्र की सेवा कर सकते हैं। भारत माता की समृद्धि और विकास के महायज्ञ में सहभागी हो सकते हैं।

कर्म निर्माण और ध्वंस दोनों का कारण हो सकता है। होता है। जब कभी हम केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये, केवल अपनी सुख-सुविधा और भोग के लिए कर्म करते हैं तभी वह कर्म दूषित हो जाता है। उतना ही नहीं वह आत्मघाती भी हो जाता है। स्वार्थ प्रेरित कर्म अन्ततः व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक ही होता है।

आज हमारा देश एक संक्रमणकाल से गुजर रहा है। हमारी अस्मिता और संस्कृति पर संकट के बादल छाये हुए हैं। चारों ओर निराशा, अविश्वास और भय का आतंक समाया हुआ है।

इस विषम परिस्थिति से निकलने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है – अपने कर्तव्यों का पालन करना। हम जहाँ जिस स्थिति में हैं वहीं यदि हम निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करें तो हम अपने देश को इस संकट से अवश्य उबार सकते हैं।

कर्तव्य पालन की प्रथम शर्त है कि व्यक्ति अपने कर्तव्य पालन के बदले कुछ नहीं चाहता। वह प्रतिदान नहीं चाहता। 'कर्तव्य पालन के लिये ही कर्म' – यही उसके कर्म करने की प्रेरणा का स्रोत होता है।

कर्तव्यशील व्यक्ति कर्तव्य कर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित होता है। अपने कर्तव्य कर्म के प्रति उसके हृदय में प्रेम होता है। यही कर्तव्य-प्रेम वास्तव में उसकी कर्म-प्रेरणा का स्रोत होता है। ऐसा कर्तव्य-प्रेमी व्यक्ति मन-प्राणपूर्वक कर्म करता है, इस कारण उसके सभी कर्म सुव्यवस्थित तथा उत्तम रीति से संपादित होते हैं। इस कर्तव्य-प्रेम के कारण उसकी कर्म-क्षमता भी दिनों-दिन उन्नत एवं उत्कृष्ट होती जाती है। परिणामस्वरूप उसके कर्मों के फल भी अधिकाधिक उन्नत, श्रेष्ठ तथा लोक कल्याणकारी होते जाते हैं। इस प्रकार कर्तव्य परायण व्यक्ति अनायास ही समाज-सेवक बन जाता है। तथा उसके कर्मों का सुफल समाज को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

कर्तव्य परायण व्यक्ति निःस्वार्थ तथा परोपकारी होता है। अपने कर्मों का फल वह स्वयं के लिये नहीं चाहता। जिसके प्रति वह कर्तव्य पालन करता है उसकी सुख-समृद्धि, उसके सर्वांगीण कल्याण की एकमात्र आकांक्षा उसके मन में हुआ करती है। ऐसा व्यक्ति देश और समाज के लिए वरदान सिद्ध होता है।

यदि हम अपनी स्वाधीनता के १०० वर्ष पूर्व के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम पायेंगे कि हमारे देश में हजारों की संख्या में ऐसे देशभक्त थे जिनके जीवन का एकमात्र कर्तव्य था - भारत माता की सेवा तथा उसकी स्वाधीनता के लिये आमरण प्रयत्न।

कितने ऐसे लोग हो गये जिन्होंने धर्म और संस्कृति की सेवा तथा उत्थान को ही अपने जीवन का कर्तव्य कर्म बना लिया तथा उसके लिये अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया।

कितने महापुरुषों ने सामाजिक कुरीतियों, छुआछूत, बालविवाह आदि कुप्रथाओं को दूर करना ही अपने जीवन का पुनीत कर्तव्य बना लिया तथा जीवनभर उस कर्तव्य के पालन में लगे रहे।

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्ति के प्रयत्न को अपना पुनीत कर्तव्य मानकर कितने देशभक्तों ने अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। उनकी कर्तव्य परायणता और बलिदान के कारण ही आज हम स्वाधीन भारत के नागरिक हैं।

हमारी स्वाधीनता को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए, हमारे राष्ट्र की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए, हमारे राष्ट्र की उन्नति और समृद्धि के लिए यह परम आवश्यक है कि हम अपने अतीत का स्मरण कर उससे प्रेरणा ले अपने अपने कर्तव्य कर्म करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ। भारत के सर्वांगीण विकास और कल्याण का यही सुलभ राजमार्ग है।
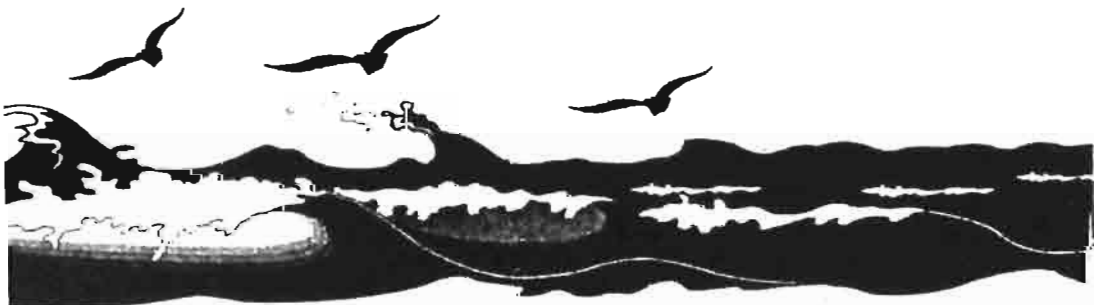
माँ सारदा का जीवन

रामानन्द चट्टोपाध्याय

(बँगला के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने यह लेख स्व-सम्पादित 'प्रवासी' मासिक के लिए लिखा था, जो उसके बैशाख-१३३१ अंक में प्रकाशित हुआ। बाद में इसके महत्व को देखते हुए लेखक की अनुमति से इसे 'श्रीश्रीमायेर-कथा' ग्रन्थ की भूमिका के रूप में संकलित किया गया। माताजी की जन्मतिथि के अवसर पर हम वहीं से इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

शास्त्रों में गृहस्थ की प्रशंसा है और संन्यासी की भी प्रशंसा है। उनमें लिखा है और हम सहज बुद्धि से भी समझ सकते हैं कि गृहस्थ आश्रम ही समस्त आश्रमों का मूल है। परन्तु प्रत्येक गृहस्थ का जीवन प्रशंसनीय या निन्दनीय नहीं है और न ही प्रत्येक संन्यासी का ही जीवन प्रशंसनीय या निन्दनीय है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भगवान से प्राप्त शक्ति तथा हृदय-मन की गति के द्वारा यह निश्चित होता है कि भगवान ने किसे किस कार्य के निमित्त किस प्रकार का जीवन बिताने के लिए संसार में भेजा है। वे जिस आश्रम में हैं, उसके उपयुक्त जीवन बिता रहे हैं या नहीं, इसकी विवेचना करके वे प्रसन्नता या आत्मग्लानि का भी अनुभव कर सकते हैं। कोई किस आश्रम का व्यक्ति है, केवल उस आश्रम के नाम की छाप देखकर उसके जीवन का उत्कर्ष-अपकर्ष या सार्थकता-व्यर्थता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। व्यक्ति-निरपेक्ष रूप से गृहस्थाश्रम की अपेक्षा संन्यास अथवा संन्यासाश्रम की अपेक्षा गार्हस्थ्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की विवेचना नहीं की जा सकती।

सामान्यत: यही देखने में आता है कि जो संन्यासी है, उन्होंने सम्भव है कभी विवाह ही न किया हो, या फिर विवाह करने पर भी उन्होंने पत्नी तथा उसके साथ अपने समस्त सम्बन्धों को विच्छिन्न करके गृहत्याग किया हो। परमहंस श्रीरामकृष्ण संन्यासी थे, परन्तु उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में विवाह किया था। बाल्यकाल में जब उनमें विचार करने की क्षमता न थी, तभी अथवा या उनकी इच्छा के विरुद्ध किसी ने उनका विवाह नहीं किया। उनका विवाह उनकी सहमति से हुआ था। उनकी जीवनी में लिखा है कि उन्हीं के निर्देशानुसार वधू का चुनाव हुआ था। परन्तु जहाँ एक ओर उन्होंने पत्नी को लेकर किसी साधारण गृहस्थ के समान घर नहीं बसाया, उनके साथ कभी कोई दैहिक सम्बन्ध नहीं रखा, वहीं दूसरी ओर उनका परित्याग भी नहीं किया; बल्कि उन्होंने पत्नी को अपने पास रखकर स्नेह, उपदेश तथा अपने स्वयं के दृष्टान्त द्वारा उन्हें अपनी सहधर्मिणी के रूप में गढ़ लिया था। यह उनके जीवन का एक वैशिष्ट्य है।

परन्तु वैशिष्ट्य केवल श्रीरामकृष्ण का ही नहीं है। उनकी पत्नी सारदामणि देवी में भी वैशिष्ट्य है। यह सत्य है कि श्रीरामकृष्ण ने सारदामणि को उपदेश आदि देकर गढ़ लिया था; परन्तु जिसे शिक्षा दी जाती है, उसमें भी शिक्षा को ग्रहण करने तथा उससे लाभ उठाने की क्षमता होनी चाहिए। एक ही सुयोग्य शिक्षक के अनेक छात्र होते हैं, परन्तु उनमें से सभी ज्ञानी या अच्छे नहीं हो जाते। स्वर्ण से जैसा अलंकार बनता है, मिट्टी के ढेले से वैसा नहीं बनता।

इसी कारण सारदामणि देवी की जीवन-कथा विस्तार से जानने की इच्छा होती है। पर

खेद की बात यह है कि उनका कोई जीवन-चरित उपलब्ध नहीं है ।[१] परमहंसदेव की जीवन-चरित्र में ही यथाप्रसंग यत्र तत्र सारदामणि देवी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसी के द्वारा हमें अपनी कुतूहल-निवृत्ति करनी पड़ती है । मेरा अनुरोध है कि श्रीरामकृष्ण तथा सारदामणि के भक्तों में से यदि कोई कर सके, तो इन महीयसी नारी की जीवनी तथा उक्तियों को लिपिबद्ध करे । सम्भव हो तो कई जीवनियाँ भी लिखी जायँ । उनमें से एक तो ऐसी होनी चाहिए, जिसमें सरल तथा अविमिश्र भाव से केवल उनकी जीवनी तथा उक्तियाँ रहें । उसमें किसी प्रकार की व्याख्या, टीका-टिप्पणी या भाष्य का प्रयास न हो । श्रीरामकृष्ण की भी इसी तरह की एक जीवनी होनी चाहिए । मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि रामकृष्ण-मण्डली से बाहर के लोगों को अपनी अपनी ज्ञान-बुद्धि के अनुसार श्रीरामकृष्ण तथा सारदामणि देवी को समझने का अवसर मिलना आवश्यक है । वैसे मण्डली से जुड़े लोगों के लिए अन्य प्रकार की जीवनियाँ भी रह सकती हैं ।

श्रीरामकृष्ण के गृहस्थाश्रम का नाम गदाधर था । "सांसारिक विषयों में उनकी पूर्ण उदासीनता तथा अविराम उन्माद-भाव दूर करने के लिए ही' उनकी 'स्नेहमयी माता तथा ज्येष्ठ भ्राता ने आपस में परामर्श करने के बाद उपयुक्त कन्या ढूँढ़कर उनका विवाह कर देने का निश्चय किया ।"

"गदाधर को पता चलने पर कहीं वह कोई उज्र-आपत्ति न करे, इस कारण माता तथा पुत्र में पूर्वोक्त परामर्श एकान्त में हुआ था । परन्तु चतुर गदाधर को यह बात समझने में अधिक देर नहीं लगी और सब कुछ जानने के बाद भी उन्होंने इसमें कोई आपत्ति नहीं की; बल्कि घर में कोई नई बात होने पर जैसे समस्त बालक-बालिकागण आनन्द मनाया करते हैं, उन्होंने भी कुछ वैसा ही आचरण किया था ।"

आसपास के सभी गाँवों में पता लगाने के लिए आदमी भेज दिये गये, परन्तु कहीं भी उपयुक्त कन्या नहीं मिली । तब गदाधर ने स्वयं ही बाँकुड़ा जिले के जयरामबाटी ग्राम के निवासी श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या का पता बताया । उनकी माता तथा भ्राता ने वहाँ भी आदमी भेजा, तो कन्या मिल गयी । कुछ दिनों में ही सारी बातें निश्चित हो गयीं । १८५९ ई. की मई में रामचन्द्र मुखोपाध्याय की पाँच वर्ष की इकलौती कन्या के साथ गदाधर का विवाह सम्पन्न हुआ । विवाह में दहेज के रूप में तीन सौ रुपये देने पड़े थे । तब तक गदाधर की आयु का तेईसवाँ वर्ष पूरा होकर चौबीसवाँ शुरू हो गया था ।

गदाधर की माता चन्द्रादेवी ने 'समधी की मनस्तुष्टि तथा लोकमर्यादा की रक्षा के निमित्त अपने मित्र जमींदार लाहा बाबुओं के घर से जो गहने लिये थे और जिनसे सजाकर वे अपनी पुत्रवधू को घर ले आयी थीं, कुछ दिनों बाद उन्हें वापस लौटाने का समय आया । उस समय वे अपनी निर्धन गृहस्थी की बात सोचकर अभिभूत हो उठीं । नववधू को उन्होंने विवाह के दिन से ही अपना लिया था । बालिका के अंगों से उन आभूषणों को खोलने का विचार मन में आते ही वृद्धा के नेत्र छलछला आये । अपने अन्तर की बात उन्होंने किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया, तो भी गदाधर को इसे ताड़ने में विलम्ब नहीं लगा । उन्होंने माता को शान्त किया और निद्रामग्न वधू के अंग से इतनी कुशलतापूर्वक गहने उतार लिए कि बालिका को इसका जरा-सा भी आभास नहीं मिला । परन्तु सबेरे उठकर बुद्धिमती

१. यह लेख काफी पूर्व लिखा गया था, इस बीच माँ की कई जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं ।

बालिका ने पूछा, "मेरे शरीर पर जो इस इस प्रकार के आभूषण थे, वे सब कहाँ गये?" चन्द्रादेवी ने उसे सजल नयनों के साथ गोद में उठा लिया और सान्त्वना देती हुई बोलीं, "बेटी, गदाधर बाद में तेरे लिए उनसे भी अच्छे अच्छे कितने ही गहने बनवा देगा"।'

चन्द्रादेवी ने जिस अर्थ में ये बातें कही थीं, उस अर्थ में न होकर भी, भविष्य में उनकी ये बातें अक्षरश: सत्य हुई थीं। "पर इतने से ही इस विषय की समाप्ति नहीं हो गयी। कन्या के चाचा उस समय उसे देखने आये हुए थे और ये बातें ज्ञात होने पर वे असन्तोष व्यक्त करते हुए वधू को उसी दिन पित्रालय वापस ले गये। इस घटना से अपनी माता के मन में विशेष पीड़ा का उदय हुआ देख गदाधर ने उनका दु:ख दूर करने के निमित्त हँसते हुए कहा था, 'वे लोग अब चाहे जो भी कह लें, पर विवाह तो नहीं पलट सकते'।"

इसके लगभग दो वर्ष बाद जब सारदामणि ने अपनी आयु के सातवें वर्ष में पदार्पण किया, तब अपनी कुलप्रथा के अनुसार वे अपने पति के साथ चलकर पित्रालय से चार मील दूर स्थित ससुराल गयी थीं।

इसके बाद अनेक वर्ष श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर में नहीं रहे। १८६७ ई. में वे अपनी साधना की सहायिका भैरवी ब्राह्मणी तथा भान्जे हृदय के साथ पुन: कामारपुकुर आये।

काफी काल बाद उन्हें अपने बीच पाकर इस निर्धन परिवार में मानो आनन्द का मेला लग गया और नववधू को बुलाकर इस सुख की मात्रा को पूर्ण करने के लिए महिलाओं के निर्देश पर एक व्यक्ति को जयरामबाटी भेज दिया गया। विवाह के बाद सारदामणि ने केवल एक बार ही अपने पति को देखा था और तब वे मात्र सात वर्ष की बालिका थीं। अत: उस घटना के विषय में उन्हें केवल इतना ही याद था कि भान्जे हृदय के साथ श्रीरामकृष्ण के जयरामबाटी आने पर वे किसी निर्जन स्थान में छिपकर भी बच नहीं सकी थीं। हृदय ने उन्हें ढूँढ़ निकाला था और न जाने कहाँ से बहुत-से कमल के फूल लाकर, अपनी बालिका मामी के लज्जा तथा भय से संकुचित हो जाने पर भी उनकी पादपूजा की थी। इसके प्राय: छह वर्ष बाद तेरह की आयु में उन्हें पुन: अपनी ससुराल कामारपुकुर लाया गया। वहाँ पर वे एक माह रहीं, पर इस बार श्रीरामकृष्ण के दक्षिणेश्वर में रहने के कारण उनके साथ भेंट नहीं हो सकी थी। इसके करीब छह मास बाद उन्होंने फिर ससुराल आकर वहाँ डेढ़ महीने बिताये थे। इस बार भी पति से भेंट नहीं हुई। इसके तीन-चार माह बाद जब वे अपने पित्रालय में थीं, तभी समाचार आया कि श्रीरामकृष्ण आये हुए हैं और उन्हें भी कामारपुकुर जाना होगा। अब उनकी आयु तेरह वर्ष से छह-सात महीने अधिक रही होगी।

श्रीरामकृष्ण इस बार एक महान कर्तव्य के पालन में लग गये। अब तक पत्नी के अपने पास आने या न आने के विषय में उदासीन रहने पर भी, जब सारदामणि उनकी सेवा करने कामारपुकुर आ पहुँचीं, तो श्रीरामकृष्ण उन्हें शिक्षा-दीक्षा आदि देकर उनके कल्याण में तत्पर हुए।

श्रीरामकृष्ण को विवाहित समझकर "श्रीमद् आचार्य तोतापुरी ने एक बार उनसे कहा था, 'इससे क्या फरक पड़ता है? पत्नी के पास रहकर भी जिसका त्याग-वैराग्य, विवेक-विज्ञान सर्व प्रकार से अक्षुण्ण रहता है, वस्तुत: वही व्यक्ति यथार्थ रूप से ब्रह्म में प्रतिष्ठित हुआ है; स्त्री-पुरुष दोनों के बीच भेददृष्टि रखनेवाले बाकी लोग साधक होकर भी ब्रह्मज्ञान से बहुत दूर हैं'।"

तोतापुरीजी की यही बात श्रीरामकृष्ण के मन में उदित हुई और उन्हें अपनी सुदीर्घ साधना के द्वारा लब्ध ज्ञान की परीक्षा तथा अपनी पत्नी के कल्याण-साधन में लगाया था । किसी कार्य में कर्तव्य का बोध होते ही, न तो वे उसकी उपेक्षा कर पाते थे और न ही उसे अधूरा छोड़ते थे । इस विषय में भी यही हुआ ।

"इहलोक तथा परलोक के सम्बन्ध में अपने ऊपर पूर्णत: निर्भरशील बालिका पत्नी को शिक्षा देने में अग्रसर होकर वे उसे अधूरा नहीं छोड़ सके । अब से वे इस ओर विशेष ध्यान देने लगे कि किस प्रकार वे देव, गुरु व अतिथि आदि की सेवा तथा गृहकार्यों में दक्ष बन सकें, धन का सदुपयोग करना सीखें, और सर्वोपरि ईश्वर को सर्वस्व समर्पण कर देश-काल-पात्र भेद के अनुसार सबके साथ यथोचित आचरण करने में निपुण हो जायँ ।"

चौदह वर्ष की आयु में जब सारदामणि का पति के पास शिक्षाग्रहण आरम्भ हुआ, स्वाभाविक रूप से उस समय वे नितान्त बालिका मात्र थीं । "जिन्हें कामारपुकुर आदि गाँवों की बालिकाओं के साथ कलकत्ते की बालिकाओं की तुलना करने का मौका मिला है, वे जानते हैं कि कलकत्ता आदि स्थानों में रहनेवाली बालिकाओं का शारीरिक तथा मानसिक विकास जिस प्रकार काफी कम आयु में ही होने लगता है, ग्रामीण बालिकाओं का वैसा नहीं होता । ... पवित्र निर्मल ग्राम्य वायु का सेवन तथा गाँव के भीतर स्वेच्छानुसार विचरण करते हुए स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने के कारण ही सम्भवत: ऐसा हुआ करता है ।"

पवित्र बालिका इन दिनों श्रीरामकृष्ण का दिव्य संग तथा नि:स्वार्थ स्नेह-यत्न पाकर एक तरह के अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हुई थी । महिला भक्तों के समक्ष कभी कभी वे उस उल्लास की बात इन शब्दों में व्यक्त करती थीं, "उस समय से सर्वदा ही मुझे अनुभव होता मानो हृदय में आनन्द का पूर्ण घट स्थापित हो गया है । उस धीर-स्थिर उल्लास से मेरा हृदय कैसा पूर्ण रहा करता था, उसे कहकर नहीं समझाया जा सकता!"

कुछ माह बाद जब श्रीरामकृष्ण कामापुकुर से कलकत्ते लौटे, तब सारदामणि स्वयं को परम आनन्द-सम्पदा की अधिकारिणी मानती हुई मायके लौट गयीं । "इसने उन्हें चपल-स्वभाव न बनाकर शान्तस्वभाव किया था, प्रगल्भा न बनाकर विचारशील किया था, स्वार्थबद्ध न बनाकर नि:स्वार्थ प्रेमी बनाया था और उनके अन्तर के सारे अभाव मिटाकर उन्हें समस्त मानवजाति के दु:ख-कष्टों के प्रति अनन्त सहानुभूति-सम्पन्न बनाकर क्रमश: उन्हें करुणा की साकार प्रतिमा में परिणत कर दिया था । इस मानसिक उल्लास के फलस्वरूप उनके समस्त शारीरिक कष्ट अब से उन्हें कष्ट ही नहीं प्रतीत होते थे और अपने सगों से स्नेह-यत्न का प्रतिदान न मिलने पर भी मन में खेद नहीं होता था । इस प्रकार सारे विषयों में सन्तुष्ट रहकर बालिका स्वयं में डूबी मायके में ही कालयापन करने लगी ।"

परन्तु शरीर वहाँ रहने पर भी अब उनका मन पतिदेव के चरणों का अनुसरण करता हुआ दक्षिणेश्वर में ही निवास करता था । कभी कभी मन में उन्हें देखने तथा उनके समीप रहने की प्रबल इच्छा का उदय होने पर भी वे उसका यत्नपूर्वक संवरण करके धैर्य का अवलम्बन किया करती थीं । वे सोचतीं कि पहली भेंट में ही जिन्होंने कृपा करके इतना प्रेम दिया है, वे उन्हें विस्मृत नहीं कर सकते और यथासमय स्वयं ही बुला लेंगे ।

'इसी प्रकार दिन-पर-दिन जाने लगे और हृदय में विश्वास रखकर वे उस शुभ दिन की प्रतीक्षा करने लगीं । आशा-प्रतीक्षा का प्रबल प्रवाह बालिका के स्थिर मन में प्रवाहित होता

रहा। परन्तु उनका शरीर उनके मन के समान स्थिर नहीं रह सका; उसने दिन-पर-दिन परिवर्तित होते हुए १८७२ ई. के पौष माह में उन्हें अट्ठारह वर्ष की एक युवती में परिणत कर दिया। देवतुल्य पति के प्रथम दर्शन से उत्पन्न आनन्द ने उन्हें जीवन के दैनन्दिन सुख-दुख से ऊपर उठा रखा था, तथापि इस संसार में अबाध आनन्द का भला अवसर ही कहाँ है? गाँव के पुरुषगण जब बातचीत के दौरान 'उन्मादी' कहकर उनके पति का उल्लेख करते, "पहनने के कपड़े तक छोड़कर वह हरि हरि कहता हुआ फिरता रहता है" आदि तरह तरह की बातें कहते, या फिर जब समवयस्का बालिकाएँ जब उन्हें 'पागल की स्त्री' कहती हुई दया अथवा उपेक्षा की पात्र समझतीं – तब मुख से कुछ न बोलने पर भी उनके अन्तर में एक भीषण टीस उठती। अन्यमनस्क होकर वे सोचतीं – तो क्या जैसा मैंने उन्हें पहले देखा था, वे अब वैसे नहीं रहे? लोग जैसा कह रहे हैं, क्या अब उनकी वैसी ही हालत हो गयी है? विधाता के विधान से यदि ऐसा हुआ भी हो, तब तो मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है, बल्कि समीप रहकर उनकी सेवा में लगी रहना ही मेरा कर्तव्य है। काफी विचार करने के बाद उन्होंने निश्चित किया कि वे स्वयं ही दक्षिणेश्वर जाकर इन बातों का सत्यापन करेंगी और उसके बाद उन्हें जो कुछ कर्तव्य प्रतीत होगा, तदनुसार कार्य करेंगी।'

सारदामणि देवी की दूर के रिश्ते की कुछ महिलाओं ने उस वर्ष फाल्गुनी पूर्णिमा को पड़नेवाले चैतन्य महाप्रभु की जन्मतिथि के अवसर पर गंगास्नान के लिए कलकत्ते जाने का निश्चय किया था। उन्होंने भी इन लोगों के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। उन लोगों ने जब उनके पिता से इस विषय में अनुमति माँगी, तो वे अपनी पुत्री के कलकत्ता जाने का अभिप्राय समझ गये और उन्होंने उनके साथ स्वयं भी जाने का व्यवस्था कर ली। जयरामबाटी से कलकत्ते के जाने के लिए उन दिनों रेल की सुविधा न थी, इसलिए वहाँ जाने के लिए पालकी में अथवा पैदल ही चलकर जाना पड़ता था। धनिकों को छोड़ बाकी लोगों के लिए पैदल चलने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं था। अत: कन्या तथा संगियों के साथ श्रीरामचन्द्र मुखोपाध्याय ने पैदल ही कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया।

"धान के खेतों के बाद धान के खेत तथा बीच बीच में कमलों से परिपूर्ण तालाब देखते और अश्वत्थ, वट आदि वृक्षों की शीतल छाया में विश्राम करते हुए उन लोगों ने पहले दो दिन तो सानन्द यात्रा की। परन्तु गन्तव्य स्थान तक पहुँचने तक वह आनन्द बना नहीं रह सका। इतनी दूर तक पैदल चलने में अनभ्यस्त कन्या को बीच रास्ते में ही एक स्थान पर भयानक बुखार चढ़ आया, जिसने श्रीरामचन्द्र को बड़ी चिन्ता में डाल दिया। ऐसी हालत में पुत्री का आगे बढ़ना असम्भव जानकर वे एक चट्टी में आश्रय लेकर वहीं ठहर गये।"

प्रात:काल उठकर श्रीरामचन्द्र ने देखा कि कन्या का ज्वर उतर गया है। अब बीच रास्ते में निरुपाय होकर बैठे रहने की जगह उन्होंने धीरे धीरे आगे बढ़ना ही उचित समझा। कन्या की भी इसमें सहमति थी। थोड़ी दूर जाने के बाद एक पालकी भी मिल गयी। सारदामणि देवी को फिर बुखार आ गया। परन्तु पहले के समान उसके प्रबल न होने के कारण वे पूरी तौर से अवसन्न नहीं हुईं और इस विषय में किसी से कुछ कहा भी नहीं। रात के नौ बजे वे दक्षिणेश्वर पहुँचे।

सारदामणि को इस प्रकार पीड़ित अवस्था में आयी देखकर श्रीरामकृष्ण अतिशय उद्विग्न हो उठे।

"ठण्ड लगने से बुखार में वृद्धि हो सकती है – यह सोचकर उन्होंने उनके शयन के लिए अपने ही कमरे में एक अलग बिस्तर की व्यवस्था की और खेद व्यक्त करते हुए बारम्बार कहने लगे, 'तुम इतने दिनों बाद आयी? अब क्या मेरे सझले बाबू (मथुर बाबू) जीवित हैं, जो तुम्हारी देखभाल होगी?' औषधि-पथ्य आदि की विशेष व्यवस्था के फलस्वरूप तीन-चार दिनों के भीतर ही माँ को आरोग्य-लाभ हो गया।"

इन तीन-चार दिनों के दौरान श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने कमरे में रखकर दिन-रात औषधि-पथ्य आदि सभी विषयों में सारी व्यवस्था स्वयं ही की थी। बाद में उन्होंने नौबतखाने में अपनी जननी के साथ उनके रहने का प्रबन्ध कर दिया। सारदामणि अब समझ गयीं कि श्रीरामकृष्ण पहले जैसे थे, अब भी वैसे ही हैं और उनके प्रति उनकी स्नेह व करुणा यथावत विद्यमान है। वे अपने प्राणों में उल्लास लिए परमहंसदेव तथा उनकी माता की सेवा में लग गयीं और उनके पिता कन्या के आनन्द से आनन्दित हो कुछ दिनों बाद घर लौट आये।

श्रीरामकृष्ण ने अब पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य-पालन की ओर ध्यान दिया। अवसर मिलते ही वे सारदामणि को मानव-जीवन के उद्देश्य तथा कर्तव्य के सम्बन्ध में सभी प्रकार की शिक्षा प्रदान करने लगे। सुनने में आता है कि इन्हीं दिनों उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था, "जैसे चाँद मामा सभी बच्चों के मामा हैं, वैसे ही ईश्वर भी सबके अपने हैं; सभी को उन्हें पुकारने का अधिकार है। जो भी उन्हें पुकारेगा, उसे वे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। तुम पुकारो तो तुम्हें भी उनका दर्शन प्राप्त होगा।" केवल उपदेश देकर ही श्रीरामकृष्ण के शिक्षाप्रणाली की इतिश्री नहीं हो जाती थी। शिष्य को अपने पास रखकर प्रेम के द्वारा उसे सर्वतोभावेन अपनाने के बाद वे प्रारम्भ में उसे जो उपदेश देते, बाद में सदैव इस ओर भी वे तीक्ष्ण दृष्टि रखते कि शिष्य उसका कितना अपने जीवन में पालन कर पा रहा है और भ्रमवश उसके विपरीत कुछ करने पर, वे उसे समझाकर संशोधन भी कर देते। सारदामणि के विषय में भी उन्होंने इसी प्रणाली का अवलम्बन किया था। सामान्य-से प्रतीत होनेवाले विषयों में भी श्रीरामकृष्ण की ऐसी ही दृष्टि रहती थी। एक बार उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था, "गाड़ी अथवा नाव से जाते समय सबसे पहले जाकर चढ़ना और उतरते समय कोई चीज छूट तो नहीं रही है, यह सब देख-दाख कर सबके अन्त में उतरना।"

कहते हैं कि इसी काल में एक दिन सारदामणि ने अपने पति की पदसेवा करते करते पूछा, "तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया था, "जो माँ मन्दिर में विराजित हैं, उन्होंने ही इस शरीर को जन्म दिया है, जो नौबतखाने में निवास कर रही हैं और वे ही इस समय मेरी पदसेवा कर रही हैं। सच कहता हूँ, मैं तुम्हें साक्षात् आनन्दमयी के रूप में ही देख पाता हूँ।" श्रीरामकृष्ण प्रत्येक नारी के भीतर, यहाँ तक कि अत्यन्त हीन चरित्रवाली महिलाओं में भी जगदम्बा को ही देखते थे।

उपनिषत्कार ऋषि याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सम्वाद में शिक्षा देते हैं – "पति के भीतर आत्मस्वरूप भगवान हैं, इसी कारण पत्नी को पति प्रिय प्रतीत होते हैं; पत्नी के भीतर भी हैं, इसीलिए पति का मन पत्नी की ओर आकृष्ट होता है।" (बृह. ५)

इन दिनों श्रीरामकृष्ण तथा सारदामणि एक ही शय्या पर निशायापन करते थे। इस दौरान श्रीरामकृष्ण देह-बोध-रहित अवस्था में प्रायः रात भर समाधि में मग्न रहा करते थे

इस काल की बातों पर चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण जो कुछ कहते, उससे यह समझा जा सकता है कि सारदामणि देवी भी यदि पूर्णत: कामनाशून्य न होतीं, तो फिर श्रीरामकृष्ण में 'देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, भला कौन कह सकता है?' पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्ध अनेक लोगों की पत्नियों के विषय में कहा जाता है कि यदि वे उनकी सहायक होकर उनके जीवन-पथ को समस्त सांसारिक बाधा-विघ्नों से मुक्त न रखतीं, तो वे लोग इतने महान कार्य नहीं कर पाते। अनेक महान लोगों की पत्नियाँ केवल पति को गृहस्थी के छोटे-मोटे विभिन्न झंझटों से छुटकारा प्रदान करती हैं; अपितु विषाद, निराशा तथा दुर्बलता के अवसरों पर उनके हृदय में उत्साह तथा बल का संचार भी किया करती हैं। हमारे समकालीन इतिहास में श्रीरामकृष्ण की सुस्पष्ट मूर्ति के अन्तराल में सरदामणि देवी की मूर्ति अब भी छाया के समान प्रतीत होने पर भी, यदि वे सात्त्विक प्रकृति की नारी न होतीं, तो रामकृष्ण भी रामकृष्ण होते या नहीं, इसमें सन्देह है।

वर्ष भर व्यतीत हो जाने के बाद भी जब श्रीरामकृष्ण के मन में क्षण भर के लिए भी देहबोध का उदय नहीं हुआ और जब वे सारदामणि देवी को कभी जगदम्बा का अंश, तो कभी सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप में देखने या सोचने में समर्थ नहीं हुए, तब उन्होंने स्वयं को परीक्षा में उत्तीर्ण समझकर षोड़शीपूजा का आयोजन किया और सारदामणि देवी का अभिषेक सहित पूजन किया। लिखा है कि पूजा के अन्त में सारदामणि बाह्यसंज्ञारहित तथा समाधिमग्न हो गयी थीं।

उस पर भी उन्हें अहंकार नहीं हुआ, उनका सिर फिर नहीं गया।

षोड़शीपूजा के बाद वे लगभग पाँच महीने दक्षिणेश्वर में रहीं। उस समय भी वे रसोई आदि बनाकर श्रीरामकृष्ण, उनकी माता तथा अतिथि-अभ्यागतों की सेवा करतीं और दिन के समय नौबतखाने में रहकर रात में पति की शय्या के पास उपस्थित रहतीं। सभी प्रकार की खाद्यसामग्री श्रीरामकृष्ण के पेट को सहन नहीं होती थी, इस कारण बहुधा उनके लिए अलग से भोजन पकाना पड़ता था। उस काल में दिन-रात श्रीरामकृष्ण की 'भाव-समाधि को विराम न था' और कभी कभी 'उनके शरीर में मृतक के सारे लक्षण प्रकट हो जाते थे'। न जाने कब श्रीरामकृष्ण को समाधि लग जाय, इस आशंका से सारदामणि को रात में नींद नहीं आती थी। अत: उनकी निद्रा में व्याघात की बात ज्ञात होने पर श्रीरामकृष्ण ने नौबतखाने में ही अपनी माता के पास उनके सोने की व्यवस्था करा दी थी। इस प्रकार एक वर्ष चार महीने दक्षिणेश्वर में बिताने के बाद सम्भवत: १८७३ ई. के अक्तूबर में सारदामणि देवी कामारपुकुर लौट गयीं।

इस काल की बातों का स्मरण करते हुए सारदामणि देवी ने परवर्ती काल में भक्त-महिलाओं को बताया था, "वे एक ऐसे अपूर्व दिव्य भाव में डूबे रहते थे, जिसे कहकर नहीं समझाया जा सकता! भाव के आवेश में कभी वे तरह तरह की बातें करते; कभी हास्य, तो कभी रुदन करते और कभी समाधि में पूर्णत: स्थिर हो जाते – इसी प्रकार सारी रात निकल जाती! वह एक कैसा आवेश था, देखकर ही भय से मेरा पूरा शरीर काँपने लगता और मैं सोचने लगती कि कब यह रात बीतेगी और सबेरा होगा! उस समय तो मैं भाव-समाधि की बात बिल्कुल भी नहीं समझती थी। एक दिन उनकी समाधि भंग न होते देखकर भय से रोते हुए मैंने हृदय को बुला भेजा। उसके आकर कान में नाम सुनाते सुनाते काफी देर बाद

उन्हें चेतना आयी। इसके बाद मुझे इस प्रकार भय से कष्ट होते देखकर उन्होंने स्वयं ही मुझे सिखा दिया था कि कैसा भाव होने पर कौन-सा बीजमंत्र सुनाना होगा। इसके बाद से उतना भय नहीं लगता था, वह सब सुनाते ही उन्हें फिर होश आ जाता था।''

श्री सारदामणि देवी कहा करती थीं, ''दीपक में बाती किस प्रकार लगानी चाहिए, घर को लोगों में कौन कैसा है और किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, दूसरों के घर जाने पर कैसा आचरण करना चाहिए, आदि संसार की सारी बातों से लेकर भजन, कीर्तन, ध्यान, समाधि तथा ब्रह्मज्ञान तक समस्त विषयों की शिक्षा ठाकुर ने मुझे दी थी।''

कलकत्ते आदि स्थानों से अनेक महिलाएँ श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने दक्षिणेश्वर आकर नौबतखाने में ही पूरा दिन बिताया करती थीं। श्रीरामकृष्ण तथा उनकी माता के लिए रसोई बनाने के अतिरिक्त इन लोगों के लिए भी भोजन पकाने का कार्य सारदामणि ही करती थीं। कभी कभी उनमें से कोई विधवा हुई, तो उनके लिए उन्हें चूल्हे को गोबर तथा गंगाजल से तीन बार लीपने के बाद ही फिर से रसोई चढ़ानी पड़ती थी।

एक बार पानीहाटी का महोत्सव देखने जाते समय श्रीरामकृष्ण ने एक महिला-भक्त से कहा, ''तुम लोग तो जा ही रही हो, यदि उसकी इच्छा हो तो वह भी चले'' और सारदामणि देवी से पुछवाया कि क्या वे भी जायेंगी? सारदामणि देवी ने यह सुनकर कहा, ''बहुत-से लोग साथ जा रहे हैं, वहाँ भी बड़ी भीड़ होगी। इतने भीड़ में नाव से उतरकर उत्सव देखना मेरे लिए बड़ा कठिन होगा, मैं नहीं जाऊँगी।'' उनके इस न जाने के संकल्प का उल्लेख करते हुए बाद में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, ''इतनी भीड़ थी! फिर भाव-समाधि के कारण सबकी मुझ पर टकटकी लगी हुई थी, उसने (सारदामणि) न जाकर अच्छा ही किया। उसे साथ देखकर लोग कहते 'हंस-हंसी आये हैं'। वह बड़ी बुद्धिमती है।'' इसके बाद पत्नी की बुद्धिमत्ता तथा निर्लोभिता का दृष्टान्त देते हुए वे बोले –

''मारवाड़ी भक्त (लक्ष्मीनारायण) ने जब (मुझे) दस हजार रुपये देने की इच्छा व्यक्त की, तो मेरे सिर पर मानो आरा चल गया। मैंने माँ से कहा, 'माँ, इतने दिनों बाद तू मुझे फिर से प्रलोभन दिखाने आयी है!' उसी समय उसके मन की परीक्षा करने के लिए मैंने उसे बुलवाकर कहा, 'अजी, यह रुपये देना चाहता है, मेरे मना करने पर, तुम्हारे नाम कर देना चाहता है। तुम उसे ले लो न! क्या कहती हो?' सुनते ही उसने कहा, 'ऐसा भला कैसे हो सकता है? रुपये नहीं लिए जा सकते – मेरे लेने से वह तुम्हारे ही लेने के समान होगा; क्योंकि मैंने लिया तो उसे तुम्हारी सेवा तथा अन्य आवश्यक कार्यों में उसे व्यय किये बिना मैं नहीं रह सकूँगी। फलतः वह तुम्हारा ही ग्रहण करना होगा। तुम्हारे त्याग के कारण ही लोग तुम्हारे प्रति भक्ति-श्रद्धा करते हैं। अतएव रुपये किसी भी हालत में नहीं लिये जा सकते।' उसकी यह बात सुनकर मैंने चैन की साँस ली।''

यह एक ऐसी नारी की निःस्पृहता के विचार का निदर्शन है, जिन्हें निर्धनता के कारण दक्षिणेश्वर पहुँचने के लिये विपदसंकुल मार्ग पर दो-तीन दिन पैदल चलना पड़ता था।

सारदामणि देवी ने अपने पानीहाटी महोत्सव देखने न जाने का कारण बताते हुए कहा था, ''सबेरे उन्होंने जिस भाव से चलने को कहला भेजा था, उसी से मैं समझ गयी कि वे खुले दिल से अनुमति नहीं दे रहे हैं। नहीं तो कहते, 'हाँ, अवश्य जायेगी।' ऐसा न करके जब इस विषय में निर्णय लेने का भार मुझी पर डालते हुए कहा, 'उसकी इच्छा हो, तो

चले'; तब मैंने निश्चय किया कि जाने का संकल्प त्याग देना ही उचित होगा।''

सारदामणि देवी एक हिन्दू कुलवधू होने के कारण अतिशय लज्जाशील थीं। दक्षिणेश्वर उद्यान के नौबतखाने में रहकर दीर्घकाल तक उन्होंने पति तथा अतिथि-अभ्यागतों की सेवा में मनोनियोग किया था, परन्तु उन दिनों कम लोग ही उन्हें देख पाते। रात के तीन बजे किसी के उठने पूर्व ही वे शय्या त्यागकर प्रात:कृत्य, स्नान आदि समाप्त करके जो कमरे में प्रविष्ट होतीं, तो पूरे दिन भर बाहर नहीं निकलतीं। किसी के जागने के काफी पूर्व ही चुपचाप नि:शब्द भाव से अद्‌भुत क्षिप्रता के साथ समस्त कार्य पूरा करके वे पूजा, जप, ध्यान आदि में लग जाती थीं।

रात के अन्धकार में नौबतखाने से सामने स्थित बकुलतला घाट की सीढ़ियों से गंगा में उतरते समय एक दिन उनका पाँव एक घड़ियाल के ऊपर पड़ते पड़ते रह गया था। वह घड़ियाल ऊपर चढ़कर सीढ़ियों पर लेटा हुआ था। उनकी आहट पाकर वह पानी में कूद पड़ा। इसके बाद से बिना रोशनी लिए वे कभी घाट पर नहीं उतरती थीं। ऐसे स्वभाव तथा अभ्यास के बावजूद पति के कठिन कण्ठरोग की चिकित्सा के समय श्यामपुकुर में निवास करते समय "एक ही मंजिल के मकान में अपरिचित पुरुषों के बीच सभी प्रकार की शारीरिक असुविधाएँ सहन करते हुए उन्होंने जिस प्रकार अपने कर्तव्यों का निर्वाह किया था, उसकी कल्पना मात्र से ही विस्मित रह जाना पड़ता है। ... यह सुनते ही कि डॉक्टरों के निर्देशानुसार पथ्य तैयार करनेवाले किसी व्यक्ति के अभाव में ठाकुर के रोग में वृद्धि की सम्भावना है, सारदामणि देवी ने अपने रहने की सुविधा-असुविधा की बिल्कुल भी परवाह न करते हुए श्यामपुकुर के मकान में आकर सानन्द उस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया था। उन्होंने वहाँ रहकर सबसे प्रमुख सेवाकार्य का भार ग्रहण किया था।'' यहाँ भी वे रात तीन बजे के पूर्व ही उठ जातीं और रात के ग्यारह बजे के बाद से केवल दो घण्टे ही शयन करती थीं। हिन्दू कुलवधू होकर भी वे आवश्यकता के अनुरूप पूर्व संस्कार तथा अभ्यास की बाधा को पार करके प्रत्युत्पन्न-मति तथा साहस के साथ यथायोग्य आचरण करने में कितनी समर्थ थीं, इसके दृष्टान्त के रूप में हम यहाँ एक घटना का विवरण दे रहे हैं।

सस्ती सवारी न मिलने तथा धनाभाव आदि विभिन्न कारणों से उन दिनों सारदामणि देवी जयरामबाटी तथा कामारपुकुर से प्राय: पैदल ही चलकर दक्षिणेश्वर आया करती थीं। इस मार्ग पर यात्रियों को चार-पाँच कोस लम्बा तेलोभेलो तथा कैकला का मैदान पार करना पड़ता था। इन दोनों विशाल मैदानों में उन दिनों हत्यारे डाकुओं के अड्डे थे। इस मैदान के बीच अब भी एक भयानक कालीमूर्ति दिखाई देती है। इसी 'तेलोभेलो के डकैतों की काली' की पूजा करके दस्युगण नरहत्या तथा डकैती के मुहीम पर निकलते थे। इस कारण लोग बिना दलबल के ये दोनों मैदान पार करने का साहस नहीं करते थे।

एक बार श्रीरामकृष्ण के एक भतीजे, एक भतीजी तथा कुछ अन्य स्त्री-पुरुषों के साथ सारदामणि कामारपुकुर से पैदल ही चलकर दक्षिणेश्वर आ रही थीं। आरामबाग पहुँचने के बाद उनके संगी यह सोचकर कि संध्या के पूर्व ही तेलोभेलो तथा कैकला के मैदानों को पार कर लेने के लिए यथेष्ट समय बचा है, वहाँ ठहरने तथा रात बिताने में अनिच्छा व्यक्त करने लगे। चलते चलते सारदामणि देवी थक चुकी थीं, तथापि वे इस पर कोई आपत्ति न करते हुए उन लोगों के साथ अग्रसर हुईं। वे लोग बारम्बार आगे निकलकर उनकी प्रतीक्षा

करते और उनके निकट आ जाने पर फिर चलने लगते । आखिरकार उन लोगों ने कहा, "इस प्रकार चलने से तो एक प्रहर रात तक भी इस मैदान को पार नहीं किया जा सकेगा और सबको डकैतों के हाथ पड़ना होगा ।" स्वयं को इतने लोगों की असुविधा तथा आशंका का कारण बनी देख, उन्होंने उन लोगों को मार्ग में अपने लिए इन्तजार करने से मना करते हुए कहा, "तुम लोग सीधे जाकर तारकेश्वर की चट्टी पर विश्राम करो, मैं यथाशीघ्र आकर तुम लोगों से मिलती हूँ ।" इस पर संगियों ने दिन ढलता देख तेजी से चलना आरम्भ किया और शीघ्र ही वे आँखों से ओझल हो गये ।

थकान के बावजूद सारदामणि देवी यथासाध्य द्रुत वेग से चलने लगीं, परन्तु मैदान के बीचो-बीच पहुँचने के किंचित बाद ही संध्या हो गयी । वे बड़ी चिन्तित होकर सोचने लगीं कि अब क्या करें! तभी उन्होंने देखा कि एक हृष्ट-पुष्ट अत्यन्त साँवले रंग का आदमी कन्धे पर लाठी लिए उनकी ओर चला आ रहा है । लगा कि उसके पीछे उसका कोई संगी भी है । भागना या चिल्लाना व्यर्थ जानकर वे दृढ़तापूर्वक खड़ी रहीं । थोड़ी देर बाद ही वह व्यक्ति उनके समीप पहुँचकर कर्कश स्वर में पूछने लगा, "कौन हो जी, इस समय यहाँ खड़ी हो?" सारदामणि ने कहा, "बाबा, मेरे संगी मुझे छोड़ गये हैं, लगता है मैं भी रास्ता भूल गयी हूँ; क्या तुम साथ ले जाकर मुझे उनके पास पहुँचा दोगे? तुम्हारे जमाई दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के कालीबाड़ी में रहते हैं । मैं उन्हीं के पास जा रही हूँ । तुम यदि मुझे वहाँ तक ले जाओ, तो वे तुम्हारा खूब आदर-सत्कार करेंगे ।" ये बातें कहते-न-कहते पीछे का दूसरा व्यक्ति भी वहाँ आ पहुँचा और सारदामणि देवी ने देखा कि वह एक महिला तथा उस पुरुष की पत्नी है । उसे देखकर वे विशेष आश्वस्त हुईं और उसका हाथ पकड़कर बोलीं, "माँ, मैं तुम्हारी बेटी सारदा हूँ, साथी लोगों के छोड़ जाने के कारण मैं बड़ी विपत्ति में पड़ गयी थी; भाग्यवश बाबा और तुम आ गये, नहीं तो न जाने क्या होता ।"

सारदामणि का ऐसा निःसंकोच सरल व्यवहार देखकर और पूर्ण विश्वास तथा मधुरता से पूर्ण बातें सुनकर दस्यु सरदार तथा उसकी पत्नी का हृदय बिल्कुल पिघल गया । सामाजिक आचार तथा जाति का भेद विस्मृत करके उन दोनों ने उन्हें अपनी कन्या के रूप में ही देखा और खूब दिलासा देने लगे । थकावट के कारण आगे बढ़ने से रोककर वे लोग उन्हें निकटस्थ गाँव की एक दुकान में ले गये । महिला ने अपने वस्त्र आदि बिछाकर उनके लिए बिस्तर बना दिया और पुरुष दुकान से मुरमुरे आदि लाकर उन्हें खाने को दिया । इस प्रकार माता-पिता के समान स्नेह-यत्न के साथ उन्हें सुलाने तथा रक्षा करने में ही उनकी रात बीती और भोर में उन्हें साथ लेकर वे लोग तारकेश्वर पहुँचे । वहाँ उन्हें एक दुकान में रख- कर वे लोग विश्राम करने लगे । महिला ने अपने पति से कहा, "मेरी बिटिया को कल कुछ भी खाने को नहीं मिला । बाबा तारकनाथ की पूजा जल्दी से निपटाकर बाजार से पूरी-सब्जी ले आओ; आज उसे अच्छी तरह से खिलाना होगा ।"

पुरुष के चले जाने पर सारदामणि देवी के संगी तथा संगिनीगण उन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचे और उन्हें सुरक्षित पहुँची देखकर आनन्द व्यक्त करने लगे । तब उन्होंने अपने रात के आश्रयदाता माता-पिता के साथ उन लोगों का परिचय कराते हुए कहा, "ये लोग यदि आकर मेरी रक्षा न करते, तो कह नहीं सकती कि कल रात मेरा क्या होता ।"

इसके बाद सभी के पुनः चलने के लिए तैयार हो जाने पर सारदामणि देवी ने उन पुरुष

तथा स्त्री के प्रति विशेष कृतज्ञता व्यक्त करते हुए विदा माँगी। बाद में उन्होंने बताया था, "एक रात के भीतर ही हमारे भीतर इतना अपनत्व आ गया था कि विदाई के समय मैं फूट-फूटकर रोने लगी। आखिरकार सुविधानुसार दक्षिणेश्वर आकर मुझसे मिलने का बारम्बार अनुरोध करके उनसे स्वीकृति लेने के बाद ही बड़े कष्टपूर्वक मैंने उन्हें छोड़ा। आते समय वे लोग काफी दूर तक हमारे साथ आये थे और महिला ने निकट के खेत से थोड़ी-सी मटर की फलियाँ तोड़कर रोते हुए मेरे आँचल के छोर से बाँधने के बाद करुण स्वर में कहा था, 'बेटी सारदा, रात में जब मुरमुरे खाना, तो इसके साथ इसे मिला लेना।' पूर्वोक्त वचन का उन दोनों ने पालन किया था। विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ लेकर वे लोग बीच बीच में मुझसे मिलने कई बार दक्षिणेश्वर आये थे। उन्होंने (ठाकुर) भी मेरे मुख से सारी बातें सुनने के बाद उस समय उन लोगों के साथ दामाद के समान व्यवहार करके तथा आदर-सम्मान देकर उन्हें सन्तुष्ट किया था। इतने सरल तथा सच्चरित्र होकर भी लगता है मेरे दस्यु पिता ने पहले कभी कभी डकैती डालने का काम किया था।"

१५ अगस्त १८८६ ई. के दिन परमहंसदेव ने देहत्याग किया। तब सारदामणि देवी की आयु ३३ वर्ष थी। सुना है कि पति के तिरोभाव के उपरान्त सारदामणि देवी ने विधवा का वेश नहीं अपनाया। इस बात की सत्यता जानने के लिए मैंने परमहंसदेव तथा सारदामणि देवी के भक्त को पत्र लिखा था। उत्तर में उन्होंने लिखा है – "श्रीमत परमहंसदेव के देहत्याग के समय माँ जब हाथ के कंगन उतारने लगीं, तो परमहंसदेव को जैसा उन्होंने जीवित अवस्था में रोगहीन शरीर में देखा था, उसी मूर्ति में आकर वे माँ का हाथ पकड़कर बोले – मैं क्या मर गया हूँ, जो तुम सुहाग की वस्तु हाथ से खोल रही हो? इसके बाद से माँ कभी खाली हाथ नहीं रहीं। वे लाल रंग़ की पतली किनारी की साड़ी तथा हाथ में कंगन पहना करती थीं।" आत्मा के अमरत्व में इस प्रकार का विश्वास यदि सबमें हो, तो संसार के बहुत-से दुःख, पाप, ताप तथा दुर्गतियाँ दूर हो जायँ।

पति के तिरोभाव के बाद सारदामणि देवी ३४ वर्ष तक जीवित रहीं। उन्होंने २० जुलाई १९२० ई. को ६७ वर्ष की आयु में परलोकगमन किया। 'उद्‌बोधन' के आगामी अंक में उनके व्रत, त्याग, निष्ठा, संयम, सबके प्रति समान स्नेह, सेवा-परायणता, दिन-रात अक्लान्त भाव से कर्मानुष्ठान तथा अपने शरीर के सुख-दुःख के प्रति पूर्ण उदासीनता, उनकी सरलता, निरभिमानिता, सहिष्णुता, दया, क्षमा, सहानुभूति तथा निःस्वार्थता आदि गुणों का वर्णन किया गया था। उनके पति के तथा उनके स्वयं के भक्तगण उन्हें 'माँ' कहकर सम्बोधित करते थे और अब भी 'माँ' कहकर ही उनका उल्लेख किया करते हैं। यह मातृ-सम्बोधन सार्थक हो। □
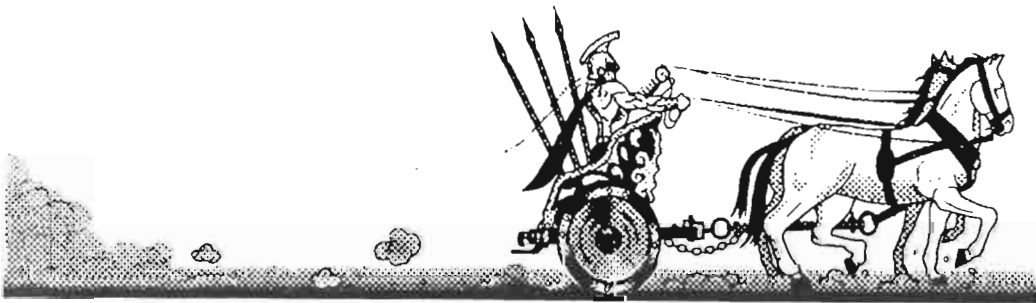
माँ की स्मृतियाँ

स्वामी निर्वाणानन्द

माँ को मैंने पहली बार वाराणसी के सेवाश्रम में देखा। जहाँ तक स्मरण आता है वह १९१२ ई० के नवम्बर माह के प्रारम्भ की घटना है। कालीपूजा के परवर्ती दिन माँ सेवाश्रम में आयी थीं। मैं बस कुछ दिनों पूर्व ही संघ में सम्मिलित होने के उद्देश्य से सेवाश्रम में आया था। यहाँ आने के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण वचनामृत तथा अन्य सूत्रों से माँ के बारे में जान चुका था। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) भी उस समय सेवाश्रम में ही निवास कर रहे थे। माँ अद्वैत आश्रम के निकट स्थित बागबाजार निवासी किरन दत्त के 'लक्ष्मीनिवास' नामक भवन में ठहरी हुई थीं। माँ ने उस दिन सेवाश्रम में घूम-घूमकर सब कुछ देखा था। सेवाश्रम के साधुओं को नारायण-ज्ञान से रोगियों की सेवा करते देखकर माँ अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं। उन्होंने कहा था, "देखती हूँ कि ठाकुर यहाँ स्वयं विराज कर रहे हैं। और मेरे लड़के प्राणपण से रोगियों की सेवा करके उन्हीं की पूजा कर रहे हैं।" काफी देर सेवाश्रम में बिताने के बाद माँ 'लक्ष्मीनिवास' लौट गयीं। थोड़ी देर बाद माँ ने चारु महाराज (स्वामी शुभानन्द) के पास दस रुपये का एक नोट भेज दिया। चारु महाराज काशी सेवाश्रम के संस्थापकों में से एक थे। वैसे वे तब भी साधु नहीं हुए थे। उनका नाम था चारुचन्द्र दास और उन दिनों उन्हें चारुबाबू कहा जाता था। जो रुपये लाये थे उन्होंने कहा, "माँ सेवाश्रम का कार्य देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई हैं, इसीलिए ये रुपये भेजे हैं। माँ ने कहला भेजा है, 'सेवाश्रम का कार्य मुझे इतना अच्छा लगा है कि यहीं स्थायी रूप से रह जाने की इच्छा हो रही है'।" यह बात सुनकर महाराज, महापुरुष महाराज, हरि महाराज, केदार बाबा (स्वामी अचलानन्द), चारु महाराज के आनन्द की सीमा न रही। मास्टर महाशय भी उन दिनों काशी में ही थे। सेवाश्रम का कार्य उन्हें जँचता नहीं था। उनकी धारणा थी कि रोगियों की सेवा, अस्पताल चलाना आदि साधुओं का कार्य नहीं है। ये सब ठाकुर के भावों में बाधक हैं। साधुओं को केवल साधन-भजन लेकर ही रहना चाहिए। सेवाश्रम देखने के बाद माँ का मत तथा दस रुपये देने की बात का उल्लेख करते हुए महाराज ने मास्टर महाशय से कहा, "सब सुना न आपने?" मास्टर महाशय ने कहा, "माँ ने जब कहा है, तो फिर क्या बात! अब तो मानना ही पड़ेगा कि यह सब निश्चित रूप से ठाकुर का ही कार्य है।"

उस बार वे काफी दिनों तक वाराणसी में रहीं। बीच बीच में अद्वैताश्रम तथा सेवाश्रम में उनका पदार्पण होता रहता था। महाराज प्रतिदिन माँ को प्रणाम करने 'लक्ष्मीनिवास' जाया करते थे। कभी कभी साथ में हम लोग भी रहते। माँ के साथ उन दिनों अधिक बातें न होने पर भी यदा कदा उनके विशेष स्नेह का आभास मिलता।

१९१४ ई० के दिसम्बर के अन्त में महाराज के निर्देश पर मैं सेवाश्रम से बेलुड़ मठ चला आया। माँ उन दिनों उद्‌बोधन में निवास कर रही थीं। मठ में लौट आने के बाद मैं माँ का दर्शन करने उद्‌बोधन गया था। बेलूड़ आने के पहले बाढ़-राहत का कार्य करने काशी से पश्चिमी बंगाल चला आया था। परिश्रम तथा अनियमित जीवन बिताने के कारण

मेरा स्वास्थ्य उस समय खराब चल रहा था और यह बात सम्भवतः माँ के नेत्रों से छिपी नहीं रह सकी। मुझे देखते ही माँ ने उद्विग्न स्वर में कहा, "यह क्या हुलिया बना रखा है तुमने?" मैंने कहा, "कुछ दिन बाढ़-राहत के कार्य में लगना पड़ा है। वहाँ खाने-पीने की कोई निश्चितता न थी, इसीलिए तबीयत शायद थोड़ी-सी बिगड़ गयी है।" माँ ने कहा, "थोड़ी नहीं, तुम्हारा स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया है। कुछ दिन अच्छी तरह खा-पीकर शरीर को ठीक कर लो। तुम्हें ठाकुर के बहुत से कार्य करने होंगे। स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा, तो कैसे होगा?" मठ लौटते समय माँ ने पुन: उस बात का स्मरण करा दिया। उस बार मैं मठ में कई महीनों तक महाराज की सेवा में रहा। तभी मेरे मन में उत्तराखण्ड जाकर कुछ दिन तपस्या करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। माँ उद्बोधन में थीं। वहाँ जाकर मैंने माँ से तपस्या हेतु जाने के लिए अनुमति की प्रार्थना की। प्रारम्भ में तो माँ राजी नहीं हुईं; व्याकुलतापूर्वक कहने लगीं, "नहीं बेटा, तुम अभी बच्चे हो। तुम्हें अभी तपस्या के लिए जाने की आवश्यकता नहीं। वहाँ कहाँ रहोगे, खाना कैसे जुटेगा?" परन्तु मैं भी छोड़नेवाला नहीं था। मैं उनसे अनुमति के लिए अनुरोध करता रहा। माँ ने फिर कहा, "नहीं बेटा, तुम्हें कष्ट होगा। तुम्हें तपस्या के लिए जाने की आवश्यकता नहीं।" माँ के कण्ठ से मानो व्याकुलता तथा उत्कण्ठा झलक रही थी। परन्तु मैं भी नाछोड़बन्दा था। बारम्बार अनुमति के लिए अनुनय-विनय करता रहा। आखिरकार माँ ने कहा, "अच्छी बात है बेटा, तपस्या के लिए जब तुम इतने ही व्याकुल हो, तो काशी चले जाओ। वहाँ सेवाश्रम में रहना और बाहर भिक्षा माँगकर खाना। अन्यत्र कहीं मत जाना।" तब मैंने माँ से कहा, "परन्तु माँ, मैं पैदल चलकर ही वाराणसी जाऊँगा।" माँ पहले तो इस पर राजी नहीं हुईं, परन्तु बाद में मेरे अनुनय करने पर सहमत हुईं। विदा लेने के पहले माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा, "खूब आशीर्वाद देती हूँ बेटा, तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो।" माँ का आशीष शिरोधार्य कर एक दिन मैंने पैदल ही वाराणसी के लिए प्रस्थान किया। उस बार सात-आठ महीने काशी सेवाश्रम में रहा। तदुपरान्त वहाँ से मठ लौटकर पुन: महाराज की सेवा में नियुक्त हुआ।

महाराज को बलराम मन्दिर में रहना बड़ा पसन्द था। वे प्राय: बेलूड़ मठ से बलराम मन्दिर चले जाते। वहाँ महाराज के साथ रहने के सुयोग से मैं अक्सर उद्बोधन भी चला जाता। अत: उन दिनों माँ के दर्शन तथा प्रणाम का सौभाग्य लगभग प्रतिदिन ही हो जाता था। बातचीत भी होती। माँ के गले का स्वर बड़ा ही मधुर था। दूसरों के सामने सामान्यत: लम्बे घूँघट से उनका मुख ढँका रहने पर भी, मैंने कभी माँ को वैसे देखा हो, ऐसा स्मरण नहीं आता। मैंने जब भी माँ का दर्शन किया है, माँ का श्रीमुख देखने को मिला है।

माँ की अन्तिम बीमारी के समय महाराज भुवनेश्वर में थे। मैं भी वहीं उनकी सेवा में था। माँ की महासमाधि के दिन (मंगलवार, २१ जुलाई १९२० ई०) रात के लगभग डेढ़ बजे महाराज के कमरे में प्रवेश करने पर मैंने देखा कि वे एक ऊनी चद्दर से शरीर ढँककर आरामकुर्सी पर बैठे हुए हैं। उनकी मुखमुद्रा बड़ी गम्भीर है। मुझे देखकर महाराज बोले, "सुज्जू, इस समय रात कितनी हुई है? न जाने क्यों, माँ के लिए मन कैसा कैसा हो रहा है। कौन जाने वे कैसी हैं!" मैंने पूछा, "सोयेंगे नहीं?" महाराज ने कोई उत्तर नहीं दिया। महाराज के मुख का वह गम्भीर भाव देखकर और माँ के लिए उनके चिन्तित होने

की बात जानकर मैंने उनके मन को थोड़ा हल्का करने के लिए कहा, "महाराज, तम्बाकू सजाकर ले आऊँ क्या?" महाराज कोई उत्तर दिये बिना उसी प्रकार बैठे रहे। उनका वह भाव देखकर उनसे और कुछ पूछने का साहस मुझे नहीं हुआ। धीरे धीरे मैं उनके कमरे से बाहर निकल आया। अगले दिन सुबह महाराज थोड़े अस्थिर से प्रतीत हुए। बाकी दिन प्रातःकाल वे थोड़ा-बहुत टहलने को निकला करते थे, परन्तु उस दिन नहीं गये। सामने के बरामदे में चहलकदमी करते रहे। उसी दिन डाकिया एक टेलीग्राम ले आया। शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) का तार था – पिछली रात डेढ़ बजे माँ ने उद्बोधन में देहत्याग कर दिया है। मुझे उनका वह कथन याद हो आया – माँ के लिए मन कैसा कैसा हो रहा है। समाचार पाते ही महाराज का मुखमण्डल एक अज्ञात वेदना से परिपूर्ण हो उठा। वे लेट गये। थोड़ी देर बाद वे फिर उठकर बैठ गये। बोले, "मैं हविष्यान्न करूँगा। माँ के शिष्यगण तीन दिनों तक हविष्यान्न खायेंगे और जूतों का उपयोग नहीं करेंगे।" तीन दिनों तक उन्होंने किसी के साथ बातचीत नहीं की। बारह दिनों तक उन्होंने हविष्यान्न भोजन किया और पादुका का उपयोग नहीं किया। एक दिन वे बोले, "इतने दिनों तक पहाड़ की छाया में था।"

सुना है कि माँ के शरीर का दाह हो जाने के बाद महापुरुष महाराज ने वहाँ उपस्थित साधु-भक्तों से कहा था – सती के शरीर के एक एक अंग को धारणकर पूरे देश में इक्यावन पीठों की स्थापना हुई है। उन्हीं सती की पूरी देह आज बेलूड़ मठ की मिट्टी में मिल गयी। इसी से समझ लो कि बेलूड़ मठ कितना बड़ा तीर्थ है!

मठ में गंगाजी के किनारे जो तीन मन्दिर हैं (माँ का, स्वामीजी का तथा राजा महाराज का), उनमें से अन्य मन्दिरों से अलग केवल माँ का मन्दिर ही गंगा की ओर मुख किये हुए है। माँ को गंगा के प्रति विशेष लगाव था। गंगास्नान, गंगादर्शन तथा गंगातट पर रहना माँ को बड़ा प्रिय था। माँ सर्वदा गंगादर्शन किया करती थीं। (बँगला ग्रन्थ 'शतरूपे सारदा' से साभार गृहीत तथा अनुवादित)। □

धर्म बनाम राजनीति

धर्म ने कभी मनुष्यों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुड़ैल-डाइन कहकर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया। किसी धर्म ने कभी इस प्रकार अन्यायपूर्ण कार्य करने की शिक्षा नहीं दी। तब लोगों को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिए किसने उत्तेजित किया? राजनीति ने - धर्म ने नहीं, और इस प्रकार कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले, तो दोष किसका है?

— स्वामी विवेकानन्द

धर्म की आवश्यकता

स्वामी विवेकानन्द

(लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

मानव-जाति के भाग्य-निर्माण में जितनी शक्तियों ने योगदान दिया है और दे रही हैं, उन सब में धर्म के रूप में प्रगट होनेवाली शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई नहीं है। सभी सामाजिक संगठनों के मूल में कहीं-न-कहीं यही अद्भुत शक्ति काम करती रही है, तथा अब तक मानवता की विविध इकाइयों को संगठित करनेवाली सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा इसी शक्ति से प्राप्त हुई है। हम सभी जानते हैं कि धार्मिक एकता का सम्बन्ध प्राय: जातिगत, जलवायु-गत तथा वंशानुगत एकता के सम्बन्धों से भी दृढ़तर सिद्ध होता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि एक ईश्वर को पूजनेवाले तथा एक धर्म में विश्वास करनेवाले लोग जिस दृढ़ता और शक्ति से एक दूसरे का साथ देते हैं, वह एक ही वंश के लोगों की बात ही क्या, भाई-भाई में भी देखने को नहीं मिलता। धर्म के प्रादुर्भाव को समझने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। अब तक हमें जितने प्राचीन धर्मों का ज्ञान है, उन सबका एक दावा यह है कि वे सभी अलौकिक हैं, मानो उनका उद्‌भव मानव-मस्तिष्क से नहीं, बल्कि उस स्रोत से हुआ है, जो उसके परे है।

आधुनिक विद्वान् कुछ हद तक दो सिद्धान्तों पर सहमत हैं। एक है धर्म का आत्मा-मूलक सिद्धान्त और दूसरा असीम की धारणा का विकासमूलक सिद्धान्त। पहले सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजों की पूजा से ही धार्मिक भावना का विकास हुआ, दूसरे के अनुसार प्राकृतिक शक्तियों को वैयक्तिक स्वरूप देने से धर्म का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अपने दिवंगत सम्बन्धियों की स्मृति सजीव रखना चाहता है और सोचता है कि यद्यपि उनके शरीर नष्ट हो चुके, तथापि वे जीवित हैं। इसी विश्वास पर वह उनके लिए खाद्य पदार्थ रखना तथा एक अर्थ में उनकी पूजा करना चाहता है। मनुष्य की इसी भावना से धर्म का विकास हुआ।

मिस्र, बेबिलोन, चीन तथा अमेरिका आदि के प्राचीन धर्मों के अध्ययन से ऐसे स्पष्ट चिन्हों का पता चलता है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पितर-पूजा से ही धर्म का आविर्भाव हुआ है। प्राचीन मिस्रवादियों की आत्मा-सम्बन्धी धारणा द्वित्वमूलक थी। उनका विश्वास था कि प्रत्येक मानव-शरीर के भीतर एक और जीव रहता है, जो शरीर के ही समरूप होता है और मनुष्य के मर जाने पर भी उसका यह प्रतिरूप शरीर जीवित रहता है। किन्तु यह प्रतिरूप शरीर तभी तक जीवित रहता है, जब तक मृत शरीर सुरक्षित रहता है। इसी कारण से हम मिस्रवासियों में मृत शरीर को सुरक्षित रखने की प्रथा पाते हैं और इसी के लिए उन्होंने विशाल पिरामिडों का निर्माण किया, जिसमें मृत शरीर को सुरक्षित ढंग से रखा जा सके। उनकी धारणा थी कि अगर इस शरीर को किसी तरह की क्षति पहुँची, तो उस प्रतिरूप शरीर को ठीक वैसी ही क्षति पहुँचेगी। यह स्पष्टत: पितर-पूजा है। बेबिलोन के प्राचीन निवासियों में भी प्रतिरूप शरीर की ऐसी ही धारणा देखने को मिलती है, यद्यपि वे कुछ अंश में इससे भिन्न है। वे मानते है प्रतिरूप शरीर में स्नेह का भाव नहीं रह जाता। उसकी प्रेतात्मा भोजन और पेय तथा अन्य सहायताओं के लिए

जीवित लोगों को आतंकित करती है । अपने बच्चों तथा पत्नी तक के लिए उसमें कोई प्रेम नहीं रहता । प्राचीन हिन्दुओं में भी इस पितर-पूजा के उदाहरण देखने को मिलते हैं । चीनवालों के सम्बन्ध में भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनके धर्म का आधार पितर-पूजा ही है और यह अब भी समस्त देश के कोने-कोने में परिव्याप्त है । वस्तुत: चीन में यदि कोई धर्म प्रचलित माना जा सकता है, तो वह केवल यही है । इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म को पितर-पूजा से विकसित माननेवालों का आधार काफी सुदृढ़ है ।

किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो प्राचीन आर्य-साहित्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि धर्म का आविर्भाव प्रकृति की पूजा से हुआ । यद्यपि भारत में पितर-पूजा के उदाहरण सर्वत्र ही देखने को मिलते हैं, तथापि प्राचीन ग्रन्थों में इसकी किंचित् चर्चा भी नहीं मिलती । आर्य जाति के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद-संहिता में इसका कोई उल्लेख नहीं है । आधुनिक विद्वान् उसमें प्रकृति-पूजा के ही चिन्ह पाते हैं । जो प्रस्तुत दृश्य के परे है, उसकी एक झाँकी पाने के लिए मानव-मन आकुल प्रतीत होता है । उषा, सन्ध्या, चक्रवात, प्रकृति की विशाल और विराट् शक्तियाँ, उसका सौन्दर्य – इन सब ने मानव-मन के ऊपर ऐसा प्रभाव डाला कि वह इन सब के परे जाने की और उनको समझ सकने की आकांक्षा करने लगा । इस प्रयास में मनुष्य ने इन दृश्यों में आत्मा तथा शरीर की प्रतिष्ठा की, उसने उनमें वैयक्तिक गुणों का आरोपण करना शुरू किया, जो कभी सुन्दर और कभी इन्द्रियातीत होते थे । उनको समझने के हर प्रयास में उन्हें व्यक्तिरूप दिया गया, या नहीं दिया गया, किन्तु उनका अन्त उनको अमूर्त कर देने में ही हुआ । ठीक ऐसी ही बात प्राचीन यूनानियों के सम्बन्ध में भी हुई, उनके तो सम्पूर्ण पुराणोपाख्यान अमूर्त प्रकृति-पूजा ही है । और ऐसा ही प्राचीन जर्मनी तथा स्कैन्डिनेविया के निवासियों एवं शेष सभी आर्य जातियों के बारे में भी कहा जा सकता है । इस तरह प्रकृति की शक्तियों का मानवीकरण करने में धर्म का आदि स्रोत माननेवालों का भी पक्ष काफी प्रबल हो जाता है ।

यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी लगते हैं, किन्तु उनका समन्वय एक तीसरे आधार पर किया जा सकता है, जो मेरी समझ में धर्म का वास्तविक बीज है और जिसे मैं 'इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने के लिए संघर्ष' मानता हूँ । एक ओर मनुष्य अपने पितरों की आत्माओं की खोज करता है, मृतकों की प्रेतात्माओं को ढूँढ़ता है, अर्थात् शरीर का नाश हो जाने पर भी जानना चाहता है कि उसके बाद क्या होता है । दूसरी ओर मनुष्य प्रकृति की विशाल दृश्यावली के पीछे काम करनेवाली शक्ति को समझना चाहता है । इन दोनों ही स्थितियों में इतना तो निश्चित है कि मनुष्य इन्द्रियों की सीमा के बाहर जाना चाहता है । वह इन्द्रियों से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह इनसे परे भी जाना चाहता है । इस व्याख्या को रहस्यात्मक रूप देने की जरूरत नहीं । मुझे तो यह बिल्कुल स्वाभाविक लगता है कि धर्म की पहली झाँकी स्वप्न में मिली होगी । मनुष्य अमरता की कल्पना स्वप्न के आधार पर कर सकता है । कैसी अद्भुत है स्वप्न की अवस्था! हम जानते हैं कि बच्चे तथा कोरे मस्तिष्क-वाले लोग स्वप्न और जाग्रत् की अवस्था में कोई भेद नहीं कर पाते । उनके लिए साधारण तर्क के रूप में इससे अधिक और क्या स्वाभाविक हो सकता है कि स्वप्नावस्था में भी, जब शरीर प्राय: मृत-सा हो जाता है तब भी मन के सारे जटिल क्रियाकलाप चलते रहते हैं! अत: इसमें क्या आश्चर्य, यदि मनुष्य हठात् यह निष्कर्ष निकाल ले कि इस शरीर के विनष्ट हो जाने पर इसकी क्रियाएँ जारी रहेंगी? मेरे विचार से अलौकिकता की इससे अधिक

स्वाभाविक व्याख्या और कोई नहीं हो सकती, और स्वप्न पर आधारित इस धारणा को क्रमश: विकसित करता हुआ मनुष्य ऊँचे से ऊँचे विचारों तक पहुँच सका होगा । हाँ, यह भी अवश्य ही सत्य है कि समय पाकर अधिकांश लोगों ने यह अनुभव किया कि ये स्वप्न हमारी जागृतावस्था में सत्य सिद्ध नहीं होते और स्वप्नावस्था में मनुष्य का कोई नया अस्तित्व नहीं हो जाता, बल्कि वह जागृतावस्था के अनुभवों का ही स्मरण करता है ।

किन्तु तब तक इस दिशा में खोज आरम्भ हो गयी और खोज की धारा अन्तर्मुखी हो गयी । मनुष्य ने अपने अन्दर अधिक गम्भीरता से मन की विभिन्न अवस्थाओं का अन्वेषण करते करते जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था से भी परे कई उच्च अवस्थाओं का आविष्कार किया । संसार के सभी संगठित धर्मों में इन अवस्थाओं की चर्चा परमानन्द या 'अन्त:स्फुरण' के रूप में मिलती है । सभी संगठित धर्मों में ऐसा माना जाता है कि उनके संस्थापक पैगम्बरों एवं सन्देशवाहकों ने मन की इन अवस्थाओं में प्रवेश किया था, और इनमें उन्हें एक ऐसी नवीन तथ्यमाला का साक्षात्कार हुआ था, जो आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध है । उन अवस्थाओं में उन महापुरुषों को जो अनुभव हुए, वे हमारे जागृतावस्था के अनुभवों से कहीं अधिक ठोस साबित हुए । उदाहरण के लिए तुम ब्राह्मण धर्म को लो । ऐसा कहा जाता है कि वेद ऋषियों द्वारा रचित हैं । ये ऋषि ऐसे सन्त थे, जिन्हें विशिष्ट तथ्यों का अनुभव हुआ था । संस्कृत शब्द 'ऋषि' की ठीक परिभाषा है – मन्त्रों का द्रष्टा । ये मन्त्र वेदों की ऋचाओं के भाव हैं । इन ऋषियों ने यह घोषित किया कि उन्होंने कुछ विशिष्ट तथ्यों का साक्षात्कार – अनुभव किया है – अगर 'अनुभव' शब्द को इन्द्रियातीत विषय में प्रयोग करना ठीक है तो – और तब उन्होंने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया । हम देखते हैं कि यहूदियों और ईसाइयों में भी इसी सत्य का उद्घोष हुआ था ।

दक्षिण सम्प्रदाय के प्रतिनिधि बौद्धों का जहाँ तक प्रश्न है, इस सिद्धान्त को अपवाद रूप में लिया जा सकता है । यह पूछा जा सकता है कि यदि बौद्ध लोग ईश्वर या आत्मा में विश्वास नहीं करते, तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनका धर्म भी किसी अतीन्द्रिय स्तर पर आधारित है? इसका उत्तर यह है कि बौद्ध लोग भी एक शाश्वत नैतिक नियम – धर्म – में विश्वास करते हैं और उस धर्म का ज्ञान सामान्य तर्कों के आधार पर नहीं हुआ था, वरन् बुद्ध ने अतीन्द्रियावस्था में इसका आविष्कार किया था । तुम लोगों में से जिन्होंने बुद्ध के जीवन-चरित्र का अध्ययन किया है, चाहे वह 'एशिया की ज्योति' (The light of Asia) जैसी ललित कविता के माध्यम से संक्षिप्त रूप में ही क्यों न हो, उन्हें याद होगा कि बुद्ध को अश्वत्थ वृक्ष के तले बैठा हुआ दिखाया गया है जहाँ उन्हें निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति हुई है । उनके सारे उपदेश इस अवस्था से ही प्रादुर्भूत हुए, न कि बौद्धिक चिन्तन से ।

इस प्रकार सभी धर्मों ने यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्य का मन कुछ खास क्षणों में इन्द्रियों की सीमाओं के ही नहीं, बुद्धि की शक्ति के भी परे पहुँच जाता है । उस अवस्था में वह उन तथ्यों का साक्षात्कार करता है, जिनका ज्ञान न कभी इन्द्रियों से हो सकता था और न चिन्तन से ही । ये तथ्य ही संसार के सभी धर्मों के आधार हैं । निश्चय ही हमें इन तथ्यों में सन्देह करने और उन्हें बुद्धि की कसौटी पर कसने का अधिकार है । पर संसार के सभी वर्तमान धर्मों का दावा है कि मन को ऐसी कुछ अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनसे वह इन्द्रिय तथा बौद्धिक अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है । और उसकी इस शक्ति को वे तथ्य के रूप में मानते हैं ।

धर्म के इन तथ्यों से सम्बन्धित दावों की सत्यता पर विचार करने के अतिरिक्त हमें इन सारे तथ्यों में एक समानता मिलती है। ये सभी तथ्य भौतिक शास्त्र के स्थूल आविष्कारों की तुलना में अति सूक्ष्म हैं। सभी प्रतिष्ठित धर्मों में वे एक शुद्धतम अमूर्त तत्त्व का रूप ले लेते हैं, यह रूप या तो एक सर्वव्यापी सत्ता, ईश्वर कहा जानेवाला एक अमूर्त व्यक्तित्व, अथवा नैतिक विधान होता है, या समस्त भूतों में अन्तर्व्याप्त किसी अमूर्त सार तत्त्व का रूप। आधुनिक युग में भी जब मन की अतीन्द्रिय अवस्था की सहायता लिये बिना ही, धर्मोपदेश देने का प्रयास किया गया, तो उसमें भी पुराने धर्मों के अमूर्त भावों की ही सहायता ली गयी, भले ही उनको 'नैतिक विधान' (moral law), 'आदर्श एकत्व' (ideal unity) आदि नाम दिये गये हों, जिससे सिद्ध होता है कि यह अमूर्त भाव इन्द्रियगोचर नहीं है। हममें से किसी ने कभी एक 'आदर्श मानव', (ideal human being) को देखा नहीं है, फिर भी हमसे कहा जाता है कि उसकी सत्ता में विश्वास करो। हममें से किसी ने आदर्श की दृष्टि से पूर्ण मानव को देखा नहीं, तो भी उस आदर्श में विश्वास किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। इस तरह इन सभी धर्मों का निर्णय यह है कि एक 'आदर्श अमूर्त सत्ता' है, जो हमारे सम्मुख एक व्यक्त अथवा अव्यक्त सत्ता, किसी विधान या सत् या सार-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, हम सतत स्वयं को उस आदर्श तक उठाने का प्रयास कर रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य के सामने, वह जो भी हो, जहाँ भी हो, एक अपरिमित शक्तिवाला आदर्श रहता है। प्रत्येक मनुष्य के सामने सुख का प्रतीक कोई आदर्श रहता है। हमारे चारों ओर जो अनेकानेक कार्य हो रहे है, उनमें से अधिकांश अपरिमित शक्ति अथवा अपरिमित आनन्द के आदर्श के निमित्त ही किये जा रहे हैं। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हे शीघ्र ही यह पता चल जाता है कि असीम शक्ति के लाभ के निमित्त ये प्रयास तो वे कर रहे हैं, किन्तु उसको इन्द्रियों के द्वारा कोई नहीं प्राप्त कर सकता। दूसरे शब्दों में, उन्हें इन्द्रियों की सीमाओं का ज्ञान हो जाता है। वे समझ जाते हैं कि ससीम शरीर से असीम की प्राप्ति नहीं हो सकती है। सीमित माध्यम में असीम की अभिव्यक्ति असम्भव है। देर-सबेर मनुष्य को इस सत्य का ज्ञान हो ही जाता है और तब वह अपनी सीमाओं के भीतर असीम को पाने का प्रयास त्याग देता है। प्रयास का यह परित्याग ही नैतिकता की पृष्ठभूमि है। त्याग पर ही नैतिकता आधारित है। त्याग को आधारशिला माने बिना किसी नैतिक विधान का प्रचार कभी नहीं हो सका।

नीतिशास्त्र सदा कहता है – 'मैं नहीं, तू।' इसका उद्देश्य है – 'स्व नहीं, निःस्व'। यह कहता है कि असीम सामर्थ्य अथवा असीम आनन्द को प्राप्त करने के क्रम में मनुष्य जिस निरर्थक व्यक्तित्व की धारणा से चिपटा रहता है, उसे छोड़ना पड़ेगा। तुम्हें दूसरों को आगे करना होगा और स्वयं को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र कहता है – 'अपने को सबसे अन्त में रखो।' इस तरह नीतिशास्त्र का सारा विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं। वह जो असीम है, उसकी अभिव्यक्ति इस भौतिक स्तर पर नहीं हो सकती; ऐसा असम्भव है, अकल्पनीय है।

इसलिए मनुष्य को 'असीम' की गहनतर अभिव्यक्ति की प्राप्ति के लिए भौतिक स्तर को छोड़कर क्रमशः ऊपर अन्य स्तरों में जाना है। इस प्रकार विविध नैतिक नियमों की संरचना होती है, किन्तु सभी का केन्द्रीभूत आदर्श यह आत्मत्याग ही है। 'मैं'पने का पूर्ण उच्छेदन

ही नीतिशास्त्र का आदर्श है। लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं, यदि उनसे अहंता (व्यक्तित्व) की चिन्ता न करने के लिए कहा जाता है। जिसे वे अपना व्यक्तित्व कहते हैं, उसके विनष्ट हो जाने के प्रति अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। पर साथ ही ऐसे ही लोग नीतिशास्त्र के उच्चतम आदर्शों को सत्य घोषित करते हैं। वे क्षण भर के लिए भी यह नहीं सोचते कि नैतिकता का समग्र क्षेत्र, ध्येय और विषय व्यक्ति का उच्छेदन है, न कि उसका निर्माण।

उपयोगितावाद मनुष्य के नैतिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं कर सकता; क्योंकि पहली बात तो यह है कि उपयोगिता के आधार पर हम किसी भी नैतिक नियम पर नहीं पहुँच सकते। कोई भी नीतिशास्त्र तब तक नहीं टिक सकता, जब तक उसके नियमों का आधार अलौकिकता न हो, या जैसा मैं कहना अधिक ठीक समझता हूँ – जब तक उसके नियम अतीन्द्रिय ज्ञान पर आधारित न हो। असीम के प्रति संग्राम के बिना कोई आदर्श नहीं हो सकता। ऐसा कोई भी सिद्धान्त, जो मनुष्य को सामाजिक स्तर तक ही सीमित रखना चाहता हो, नैतिक नियमों की व्याख्या नहीं कर सकता। उपयोगितावादी हमसे 'असीम' – अतीन्द्रिय गन्तव्य स्थल – के प्रति संग्राम का त्याग चाहते हैं, क्योंकि अतीन्द्रियता अव्यावहारिक है, निरर्थक है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि नैतिक नियमों का पालन करो, समाज का कल्याण करो। आखिर हम क्यों किसी का कल्याण करें? भलाई करने की बात तो गौण है, प्रधान तो है – एक आदर्श। नीतिशास्त्र स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत साध्य को पाने का साधन है। यदि उद्देश्य नहीं है, तो हम क्यों नैतिक बनें? हम क्यों दूसरों की भलाई करें? क्यों हम लोगों को सताएँ नहीं? यदि सुख ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, तो क्यों न मैं दूसरों को कष्ट पहुँचाकर भी स्वयं सुखी रहूँ? ऐसा करने से मुझे रोकता कौन है? दूसरी बात यह है कि उपयोगिता का आधार अत्यन्त संकीर्ण है। सारे प्रचलित सामाजिक नियमों की रचना तो समाज की तात्कालिक स्थिति को दृष्टि में रखकर की गयी है। किन्तु उपयोगितावादियों को यह सोचने का क्या अधिकार है कि यह समाज शाश्वत है? कभी ऐसा भी समय था, जब समाज नहीं था, और ऐसा भी समय आएगा, जब यह नहीं रहेगा। यह तो शायद मनुष्य की प्रगति के क्रम में एक ऐसा स्थल है, जिससे होकर उसे विकास के उच्चतर स्तरों तक जाना है। और इस तरह कोई भी नियम जो मात्र समाज पर आधारित है, शाश्वत नहीं हो सकता, मानव-प्रकृति को पूर्णरूपेण आच्छादित नहीं कर सकता। यह उपयोगितावादी नियम बहुत हुआ तो समाज की वर्तमान स्थिति में काम कर सकता है। इसके आगे इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। किन्तु धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित नीतिशास्त्र का क्षेत्र असीम मनुष्य है। वह व्यक्ति को लेता है, पर उसके सम्बन्ध असीम हैं। वह समाज को भी लेता है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है, इसलिए जिस प्रकार यह नियम व्यक्ति और उसके शाश्वत सम्बन्धों पर लागू होता है, ठीक उसी प्रकार समाज पर भी लागू होता है – समाज की स्थिति या दशा किसी समयविशेष में जो भी हो। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य को सदैव आध्यात्मिक धर्म की आवश्यकता पड़ती रहेगी। वह हमेशा भौतिक जगत् में ही लिप्त नहीं रह सकता – वह उसे कितना भी आनन्ददायक क्यों न लगे।

ऐसा कहा जाता है कि अधिक आध्यात्मिक होने पर सांसारिक व्यवहारों में कठिनाइयाँ हो सकती हैं। कन्फ्यूशस के युग में ही कहा गया था कि 'पहले हम इस संसार की चिन्ता करें और जब इससे छुट्टी मिले, तो दूसरे लोकों की चर्चा करें।' इस लोक की चिन्ता करना

बड़ा अच्छा है । पर अगर अधिक आध्यात्मिकता से हमारे लोकाचार में थोड़ी गड़बड़ी होती है, तो सांसारिकता पर अत्यधिक ध्यान देने से तो इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाएँगे । सांसारिकता हमें पूर्णत: भौतिकवादी बनाकर छोड़ेगी । मनुष्य का उद्देश्य 'प्रकृति' नहीं है – वरन् कुछ उससे ऊपर की वस्तु है ।

"मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है ।" और यह प्रकृति बाह्य और आन्तरिक दोनों है । इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के परमाणु नियंत्रित होते हैं, वरन् ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं, जो वस्तुत: बाह्य प्रकृति को संचालित करनेवाली अन्त:स्थ प्रकृति का नियमन करते हैं । बाह्य प्रकृति को जीत लेना कितना अच्छा है! कितना भव्य है! परन्तु उससे असंख्य गुना अच्छा और भव्य है आभ्यन्तर प्रकृति पर विजय पाना । ग्रहों और नक्षत्रों का नियन्त्रण करनेवाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है, परन्तु उससे अनन्त गुना अच्छा और भव्य है, उन नियमों को जानना, जिनसे मनुष्य के मनोवेग, भावनाएँ और इच्छाएँ नियन्त्रित होती हैं । इस आन्तरिक मनुष्य पर विजय पाना, मानव-मन की जटिल सूक्ष्म क्रियाओं के रहस्य को समझना, पूर्णतया धर्म के अन्तर्गत आता है । सामान्यत: मनुष्य का स्वभाव यह है कि वह बृहत् भौतिक तथ्यों का अवलोकन करना चाहता है । साधारण मनुष्य किसी सूक्ष्म वस्तु को नहीं समझ सकता । ठीक ही कहा गया है कि संसार तो उस सिंह का आदर करता है, जो हजारों मेमनों का वध करता है । लोगों को यह समझने का अवकाश कहाँ है कि सिंह की इस क्षणिक विजय का अर्थ है – हजारों मेमनों की मृत्यु! इसका कारण यह है कि मनुष्य शारीरिक शक्ति की अभिव्यक्ति से प्रसन्न होता है । मानव-जाति का यही सामान्य स्वभाव है । बाह्य वस्तुओं को ही लोग समझ सकते हैं, इन्हीं में उन्हें आनन्द भी मिलता है । पर हर समाज में कुछ ऐसे लोग मिलते ही हैं, जिन्हें इन्द्रिय-विषयक वस्तुओं में कोई आनन्द नहीं मिलता । वे इनसे ऊपर उठना चाहते हैं और यदा-कदा सूक्ष्मतर तत्त्वों की झाँकी पाकर उन्हें ही पाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं । अब भूमा या असीम की खोज़ को उपयोगितावादी चाहे कितना भी अर्थहीन कहें, परन्तु विश्व-इतिहास का मनन करने पर हम पाते हैं कि जब जब किसी राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है, तब तब उस राष्ट्र का अभ्युदय हुआ है और जब कमी होती है, तो उस राष्ट्र का पतन होने लगता है । तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकता ही किसी भी राष्ट्र की शक्ति का प्रधान स्रोत है । जिस दिन से इसका ह्रास और भौतिकता का उत्थान होने लगता है, उसी दिन से उस राष्ट्र की मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है ।

इस तरह धर्म से ठोस सत्यों और तथ्यों को पाने के अतिरिक्त, उससे मिलनेवाली सान्त्वना के अतिरिक्त, एक विशुद्ध विज्ञान और एक अध्ययन के रूप में वह मानव-मन के लिए सर्वोत्कृष्ट और स्वस्थतम व्यायाम है । असीम की खोज करना, असीम को पाने के लिए उद्यम करना, इन्द्रियों – भौतिक द्रव्यों – की सीमाओं से परे जाकर एक आध्यात्मिक मानव के रूप में विकसित होना – इन सारी चीजों के लिए दिन-रात जो प्रयत्न किया जाता है, वह अपने आप में ही मनुष्य के सभी प्रयत्नों में उदात्ततम और परम गौरवशाली है । कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें भोजन में ही परम सुख मिलता है । हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम उन्हें वैसा करने से मना करें । फिर कुछ ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें विशिष्ट वस्तुओं के स्वामित्व में आनन्द मिलता है । और हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम कहें कि

उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए। पर किसी को आध्यात्मिक चिन्तन में ही परमानन्द मिलता है, तो उसे मना करने का भी किसी को कोई अधिकार नहीं है। जो प्राणी जितना ही निम्न स्तर का होगा, उसे इन्द्रियजनित सुखों में उतना ही आनन्द मिलेगा। बहुत कम मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जिन्हें भोजन करते समय वैसा ही उल्लास होता है, जैसा किसी कुत्ते या भेड़िये को। किन्तु याद रहे कि कुत्ते और भेड़िये के सारे सुख इन्द्रियों तक ही सीमित हैं। निम्न कोटी के मनुष्यों को इन्द्रियजनित सुखों में ही आनन्द मिलता है। किन्तु जो लोग सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं, उन्हें चिन्तन, दर्शन, कला और विज्ञान में आनन्द मिलता है। आध्यात्मिकता उससे भी उच्चतर स्तर की है। विषय के असीम होने के कारण वह स्तर उच्चतम है, और जो इसे हृदयंगम कर सकते है, उनके लिए उस स्तर का आनन्द सर्वोत्तम है। अत: यदि शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भी सुख की प्राप्ति ही मनुष्य का उद्देश्य है, तो भी धार्मिक चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि उसी में सर्वोत्तम सुख है। इस प्रकार मुझे तो ऐसा लगता है कि एक अध्ययन के रूप में भी धर्म अत्यन्त आवश्यक है।

अब हम इसके परिणामों पर विचार करें। मानव-मन के लिए यह सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है। जितनी शक्ति हममें आध्यात्मिक आदर्शों पर चलने से आती है, उतनी और किसी से नहीं। जहाँ तक मानव-इतिहास का प्रश्न है, हम लोगों के लिए सुस्पष्ट है कि बात ऐसी ही रही है और धर्म की शक्तियाँ मृत नहीं हैं। मैं यह नहीं कहता कि केवल उपयोगितावादी आधार पर मनुष्य नैतिक और अच्छा नहीं हो सकता। केवल उपयोगिता के स्तर पर भी पूर्णतया स्वस्थ, नैतिक और अच्छे महान् पुरुष इस संसार में हुए हैं। किन्तु वैसे संसार को हिला देनेवाले लोग, जो मानो विश्व में एक महान् चुम्बकीय आकर्षण ला देते हैं, जिनकी आत्मा सैकड़ों और हजारों में कार्यशील है, जिनका जीवन आध्यात्मिक अग्नि से दूसरों को प्रज्वलित कर देता है, सदा आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि से ही आविर्भूत होते हैं। उनकी प्रेरक शक्ति का स्रोत सदा ही धर्म रहा है। जो असीम शक्ति हर मनुष्य का स्वभाव तथा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसके साक्षात् के लिए धर्म सर्वश्रेष्ठ प्रेरक शक्ति है। चरित्र-निर्माण, शिव और महत् की प्राप्ति, स्वयं तथा विश्व की शान्ति की प्राप्ति के लिए धर्म ही सर्वोपरि प्रेरक शक्ति है। अत: उसका अध्ययन इस दृष्टि से भी होना चाहिए। धर्म का अध्ययन अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। धर्म-सम्बन्धी सभी संकीर्ण, सीमित, विवादास्पद धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा।

जैसे जैसे मानव-मन का विकास होता है, वैसे वैसे आध्यात्मिक सोपान भी विस्तृत होते जाते हैं। वह समय तो आ गया है, जब कोई व्यक्ति पृथ्वी के किसी कोने में कोई बात कहे और वह सारे विश्व में गूँज उठे। मात्र भौतिक साधनों से हमने सम्पूर्ण विश्व को एक बना डाला है। अत: स्वभावत: ही आनेवाले धर्म को विश्वव्यापी होना पड़ेगा।

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण है, उन सबों को समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनन्त क्षेत्र प्रदान करना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा। साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला

रखना होगा । धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए, और ईश्वर-सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए । मैंने अपने जीवन में ऐसे अनेक महापुरुषों को देखा है, जो ईश्वर में एकदम विश्वास नहीं करते थे, अर्थात् हमारे और तुम्हारे ईश्वर में । किन्तु वे लोग ईश्वर को हमारी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते थे । ईश्वर-सम्बन्धी सभी सिद्धान्त – सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव – धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए । और जब धर्म इतने उदार बन जाएँगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सौगुनी अधिक हो जाएगी । धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी संकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है ।

यहाँ तक कि आज भी हम ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय और समाज पाते हैं, जो प्राय: समान आदर्श के अनुगामी होते हुए भी परस्पर लड़ रहे हैं । इसका कारण यह है कि एक सम्प्रदाय आदर्शों को दूसरे के समान हूबहू प्रतिपादित नहीं करना चाहता । अत: धर्म के उदार होने की नितान्त आवश्यकता है । धार्मिक विचारों को विस्तृत, विश्वव्यापक और असीम होना ही पड़ेगा, और तभी हम धर्म का पूर्ण रूप प्राप्त करेंगे, क्योंकि धर्म की शक्तियों की वास्तविक अभिव्यक्ति तो बस अब शुरू हुई है । लोग कहते हैं – धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है; पर मुझे तो लगता है कि अभी अभी ये पनपने लगे हैं । एक सुसंस्कृत एवं उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानव-जीवन में प्रवेश करने जा रही है । जब तक धर्म कुछ इने-गिने पण्डे-पादरियों के हाथों में रहा, तब तक इसका दायरा मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर और धर्मग्रन्थों तथा धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारों तक सीमित रहा । पर जब हम यथार्थ आध्यात्मिक और विश्वव्यापक धरातल पर आ पहुँचेंगे, तब और तभी धर्म यथार्थ हो उठेगा, सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जाएगा, हमारी हर गति में रहेगा, समाज के रोम रोम में समा जाएगा, और तब इसकी शिवात्मिका शक्ति पूर्व में कभी की अपेक्षा अनन्त-गुनी अधिक हो जाएगी ।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी तरह के धर्म परस्पर बन्धुत्व का भाव रखें, क्योंकि अगर उन्हें जीना है, तो साथ-साथ और मरना है, तो साथ-साथ । बन्धुत्व की यह भावना पारस्परिक स्नेह तथा आदर पर आधारित होनी चाहिए । न कि संरक्षणशील, प्रसाद-स्वरूप किंचित् शुभेच्छा की कृपण अभिव्यक्ति पर, जिसे आज एक धर्म अनुग्रह के भाव से दूसरे पर दर्शाते हुए पाया जाता है । एक ओर है मानसिक व्यापारों की अध्ययन-जन्य धार्मिक अभिव्यक्तियाँ, जो दुर्भाग्यवश आज भी धर्म पर एकाधिकार का पूरा दावा रखती हैं – और दूसरी ओर हैं धर्म की वे अभिव्यक्तियाँ, जिनके मस्तिष्क तो स्वर्ग के रहस्यों में अधिक व्यस्त हैं, पर जिनके चरण पृथ्वी से ही चिपके हैं । मेरा तात्पर्य तथाकथित भौतिक विज्ञानों से है । इन दोनों के बीच इस बन्धुत्व-भावना की सर्वोपरि आवश्यकता है ।

इस सामंजस्य को लाने के लिए दोनों को ही आदान-प्रदान करना पड़ेगा, त्याग करना पड़ेगा, यही नहीं, कुछ दु:खद बातों को भी सहन करना पड़ेगा । पर इसी त्याग के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति और भी निखर उठेगा और सत्य के सन्धान में अपने को और भी आगे पाएगा । अन्त में देश-काल की सीमाओं में बद्ध ज्ञान का महामिलन उस ज्ञान से होगा, जो इन दोनों से परे है, जो मन तथा इन्द्रियों की पहुँच से परे है – जो निरपेक्ष है, असीम है, अद्वितीय है । ☐

स्वामी प्रेमानन्द की पुण्यकथा

रमणी कुमार दत्तगुप्त

(स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य थे । उनका आदर्श जीवन युग युग तक साधकों तथा भगवद्-भक्तों के लिए प्रेरणा का उत्स बना रहेगा । प्रस्तुत लेख ढाका के रामकृष्ण मठ में स्वामी प्रेमानन्द के जन्मदिवस पर आयोजित स्मृतिसभा में पठित हुआ था, जो संकलित तथा अनुवादित होकर अद्वैत आश्रम, कलकत्ता से 'स्वामी प्रेमानन्द : जीवनी, संस्मरण, पत्र तथा उपदेश' नामक ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है । अपने पाठकों के लिए हमने इसे वहीं से संकलित किया है । – सं.)

महापुरुषों के चरित्र तथा उपदेशों का स्मरण, मनन तथा ध्यान करने से हमारा सर्वांगीण मंगल होता है और उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए ही हम अपने जीवनपथ पर अग्रसर होते हैं । गीता (३/२२) में श्रीकृष्ण कहते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

– अर्थात् "महापुरुषगण जिन जिन कार्यों का अनुष्ठान करते हैं, बाकी लोग भी उन्हीं का अनुसरण करते हैं । श्रेष्ठ व्यक्ति निज आचरण द्वारा जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं, सामान्य जन भी वैसा ही करते हैं ।" भगवान के इन निर्दिष्ट सेवक तथा प्रेमी महापुरुष की जीवनकथा का स्मरण करके हमें अपने साधनपथ में सजीव प्रेरणा प्राप्त होगी ।

प्रेम के मूर्तविग्रह स्वामी प्रेमानन्द (बाबूराम महाराज) ने हुगली जिले के एक छोटे से गाँव आँटपुर में १० दिसम्बर, १८६१ ई., मंगलवार को रात में जन्म ग्रहण किया । आँटपुर ग्राम में घोष तथा मित्र वंश ही सम्भ्रान्त तथा समृद्ध परिवारों के रूप में सर्वत्र सुपरिचित थे । घोष कुल के तारापद घोष तथा मित्रवंश की मातंगिनी देवी ही बाबूराम के पिता-माता थे । दोनों अत्यन्त धर्मप्राण थे । तारापद घोष के तीन पुत्र थे – तुलसीराम, बाबूराम तथा शान्तिराम और कृष्णभाविनी उनकी ज्येष्ठ कन्या थी । अत्यन्त धर्मशीला कृष्णभाविनी का विवाह श्रीरामकृष्ण के प्रिय भक्त बलराम बोस के साथ हुआ था । बलराम बोस अथाह सम्पत्ति के अधिकारी होकर भी अपना अधिकांश समय जप, ध्यान, पूजा तथा धर्मग्रन्थों के पठन में बिताया करते थे । बलराम श्रीरामकृष्ण के पास आवागमन किया करते थे । कभी कभी वे अपने स्त्री-पुत्र तथा सगे-सम्बन्धियों को भी अपने साथ ले जाते । बलराम की हार्दिक इच्छा थी कि उनके सारे सगे-सम्बन्धी भी श्रीरामकृष्ण के दिव्य सम्पर्क में आकर धन्य और कृतार्थ हो जायँ । इसी प्रकार एक दिन बलराम अपनी सास मातंगिनी देवी को भी ठाकुर के पास ले गये । उनकी भक्तिमती सास (बाबूराम की माता) श्रीरामकृष्ण का दर्शन करके अत्यन्त आनन्दित हुईं और उन्होंने स्वयं को कृतार्थ अनुभव किया ।

इन्हीं दिनों बाबूराम गाँव की पाठशाला में प्राथमिक शिक्षा समाप्त करके उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता आये । उन्होंने कलकत्ते के एक उच्च अंग्रेजी विद्यालय में प्रवेश लिया । सौभाग्यवश श्रीरामकृष्ण के गृही भक्त तथा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के प्रणेता महेन्द्रनाथ गुप्त (श्री'म') ही उस विद्यालय के प्रधानाचार्य थे । श्री'म' सर्वदा श्रीरामकृष्ण के पास आना-जाना किया करते थे । राखालचन्द्र घोष (स्वामी ब्रह्मानन्द) भी इसी विद्यालय में पढ़ाई करते थे । विद्यालय में ही राखाल तथा बाबूराम के बीच घनिष्ठ मित्रता हो गयी ।

भागवत-पाठ सुनने के लिए कलकत्ते के जोड़ासाँको की एक हरिसभा में जाकर बाबूराम को पहली बार ठाकुर श्रीरामकृष्ण का दर्शन मिला। परन्तु उस समय वे उन्हें श्रीरामकृष्ण के रूप में नहीं जान सके थे। बाबूराम ने अपने बड़े भाई के मुख से सुना था कि श्री चैतन्यदेव के समान ही हरिनाम लेते हुए श्रीरामकृष्ण का भी बाह्यज्ञान लोप हो जाता है। वे भी श्रीरामकृष्ण का दर्शन करना चाहते हैं या नहीं – ऐसा पूछे जाने पर बाबूराम ने अपनी सहमति व्यक्त की। राखाल का पहले से ही दक्षिणेश्वर आना-जाना चल रहा था। अतः अगले दिन उन्होंने बाबूराम के साथ सलाह करके निश्चित किया कि आगामी शनिवार के दिन वे दोनों एक साथ ही श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने जाएँगे। निर्दिष्ट दिन विद्यालय की छुट्टी के बाद वे दोनों नाव पर सवार होकर दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े। रास्ते में उनकी अपने मित्र रामदयाल के साथ भेंट हो गयी। रामदयाल भी पहले से ही दक्षिणेश्वर आते-जाते थे। सन्ध्या के समय वे दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर जा पहुँचे।

दक्षिणेश्वर का मनोरम दृश्य देखकर बाबूराम मुग्ध हो गये। तीनों मित्रों ने श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट होकर देखा कि वे वहाँ उपस्थित नहीं हैं। बाबूराम तथा रामदयाल को वहीं प्रतीक्षा करने को कहकर राखाल तेज कदमों से काली-मन्दिर की ओर अग्रसर हुए। कुछ मिनट बाद ही राखाल श्रीरामकृष्ण का हाथ पकड़े हुए लौट आये। श्रीरामकृष्ण उस समय ईश्वरप्रेम में उन्मत्त थे और राखाल बड़ी सावधानी के साथ उनका हाथ पकड़कर उन्हें मार्ग दिखाते हुए ला रहे थे। अपने कमरे में आकर श्रीरामकृष्ण छोटे तख्ते के ऊपर बैठे और शीघ्र ही सहज अवस्था में आ गये। इसके उपरान्त ठाकुर ने आगन्तुकों से उनका परिचय पूछा। रामदयाल ने बाबूराम का परिचय दिया। परिचय पाकर श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'तू तो देखता हूँ कि बलराम का सम्बन्धी है ! तब तो हम लोगों के साथ भी तेरा सम्बन्ध है। अच्छा, तो तेरा घर कहाँ है?

बाबूराम – जी, आँटपुर।

श्रीरामकृष्ण – तो फिर, मैं वहाँ गया हूँ। झामापुकुर की काली और भुलु का घर क्या वहीं नहीं है?

बाबूराम – जी हाँ। आप उन लोगों को कैसे जानते हैं?

श्रीरामकृष्ण – मैं जब झामापुकुर में निवास करता था, तो प्रायः ही बीच-बीच में उनके घर जाया करता था।

इतना कहने के बाद श्रीरामकृष्ण बाबूराम का हाथ पकड़कर कहने लगे, "थोड़ी रोशनी में आ। तेरा मुख तो देखूँ !"

छोटे-से दीपक के धुँधले प्रकाश में ठाकुर ने बाबूराम के मुख का विशेष रूप से निरीक्षण किया और सन्तुष्ट होकर बीच-बीच में सिर हिलाते रहे। आखिरकार वे पुनः बोले, "जरा तेरी हथेली भी तो देख लूँ।" हाथ देखने के बाद वे उनके हाथ को अपने हाथ पर रखकर उसका वजन देखने लगे। अन्त में आनन्दित होकर बोले, "ठीक है ! ठीक है !"

इसी प्रकार बातें करते हुए रात के दस बज गये। रामदयाल ठाकुर के लिए मिठाइयाँ लाये थे। ठाकुर ने उसमें से थोड़ा-सा लेकर बाकी तीनों में वितरित कर दिया। तुम लोग भीतर ही सोओगे या बाहर – ठाकुर के ऐसा पूछने पर बाबूराम ने रामदयाल के साथ बाहर ही शयन करना पसन्द किया। श्रीरामकृष्ण ने तीनों को कमरे के भीतर ही सोने को कहा।

अगले दिन प्रात:काल ठाकुर ने बाबूराम को पंचवटी के चारों ओर घूम आने को कहा। पंचवटी देखकर उनके बाल्यकाल की अनेक स्मृतियाँ जाग उठीं। बचपन में यदि कोई उपहास करते हुए बाबूराम से कहता कि उनकी बहू आयेगी, तो वे तत्काल कह उठते, "तब तो मैं मर जाऊँगा।" आठ वर्ष की आयु में वे मन-ही-मन सोचते कि यदि इस संसार से बहुत दूर एक अच्छे संन्यासी के साथ वे किसी कुटिया में त्याग का जीवन बिता पाये, तो अपने को धन्य मानेंगे। पंचवटी में पदार्पण करते ही उस स्थान को ठीक अपने बाल्यकाल के स्वप्न के अनुरूप पाकर वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। यह सोचते हुए कि बाल्यकाल में ही मेरे मन में यह विचार कैसे आया था – वे श्रीरामकृष्ण के पास लौट आये। उनके द्वारा पूछे जाने पर कि स्थान कैसा लगा, बाबूराम बोले, "अति उत्तम और मनोरम है।" इसके बाद श्रीरामकृष्ण ने उन्हें काली-मन्दिर में दर्शन कर आने को कहा। मन्दिर-दर्शन के बाद परमहंसदेव से विदा लेकर बाबूराम कलकत्ते की ओर रवाना हुए। लौटते समय श्रीरामकृष्ण ने उन्हें फिर आने का निमंत्रण दिया। बाबूराम ने इस पर हामी भरी। यही बाबूराम का श्रीरामकृष्ण के साथ प्रथम साक्षात्कार तथा परिचय था।

इस प्रथम दर्शन से ही बाबूराम उनके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हुए। बाबूराम ने कहा, "श्रीरामकृष्ण बड़े अच्छे आदमी है; नरेन्द्र से बड़ा प्रेम करते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि नरेन्द्र उनके पास नहीं जाता।" अगले रविवार को आठ बजे बाबूराम फिर दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण उन्हें देखकर बोले, "तू आया है, बड़ा अच्छा हुआ। पंचवटी में जा, वहाँ वनभोज हो रहा है। नरेन्द्र आया है, जाकर उसके साथ बातें कर।" पंचवटी में बाबूराम की राखाल से भेंट हुई। राखाल ने नरेन्द्र तथा अन्य भक्तों के साथ बाबूराम का परिचय करा दिया। बाबूराम ने नरेन्द्र को देखते ही उनकी भूरि भूरि प्रशंसा आरम्भ कर दी – उनके तेजस्वी नेत्रों तथा सुन्दर हास्यपूर्ण मुखमण्डल ने बाबूराम के चित्त को आकृष्ट कर लिया। नरेन्द्र ने एक भजन गाया, बाबूराम उसे सुनकर मुग्ध हो गये और सुनते-सुनते बोले, "इसकी प्रतिभा तो बहुमुखी है!"

ज्यों ज्यों दिन बीतते गये, त्यों त्यों श्रीरामकृष्ण के साथ बाबूराम का सम्बन्ध प्रगाढ़-से-प्रगाढ़तर होता गया। श्रीरामकृष्ण उन्हें अपना आदमी मानकर खूब आदर-यत्न करते थे। बाबूराम ने भी श्रीरामकृष्ण के जीवन को श्रेष्ठ आदर्श के रूप में स्वीकार करके उनके चरणकमलों में अपना मन-प्राण पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया और श्रीरामकृष्ण भी माँ के समान बाबूराम को शिक्षा-दीक्षा प्रदान करने लगे। बाबूराम के बारे में ठाकुर की अत्यन्त उच्च धारणा थी। श्रीरामकृष्ण बाबूराम को पूर्णत: पवित्र मानते थे और उन्हें नित्यसिद्ध ईश्वरकोटि कहा करते थे। बाबूराम को उन्होंने कण्ठहार पहने सखियों से आवृत्त एक देवी के रूप में दर्शन किया था। बाबूराम की पवित्रता के विषय में श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "यह नया पात्र है, इसमें दूध रखा जा सकता है, खराब होने का भय नहीं है। बाबूराम की हड्डियाँ तक शुद्ध हैं। कोई भी अपवित्र भाव कभी उसके शरीर-मन में प्रवेश नहीं कर सकता। बाबूराम मेरा हमदर्द है।"

पवित्रता के मूर्त-विग्रह होने के कारण ही श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम को अपना योग्य सेवक बनाकर उन्हें अपने पास रखा था। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करते करते बाबूराम का मन क्रमश: ईश्वर की ओर अग्रसर होने लगा। पढ़ने-लिखने की ओर से उनका मनोयोग काफी कम हो गया, तथापि वे पढ़ाई को बिल्कुल ही छोड़ नहीं सके। एक

दिन श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम से पूछा, "बाबूराम, तेरी पुस्तकें कहाँ हैं? पढ़ाई-लिखाई करना चाहता है या नहीं?" फिर वे श्री 'म' की ओर उन्मुख होकर बोले, "बाबूराम दोनों ओर का बचाये रखना चाहता है। यह मार्ग बड़ा ही कठिन है। सामान्य विद्या के द्वारा क्या होगा? देख, वशिष्ठ पुत्रशोक से कातर थे। लक्ष्मण ने यह देखकर विस्मित हो राम से इसका कारण पूछा। राम बोले – भाई, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जिसे ज्ञान है, उसे अज्ञान भी है। तुम ज्ञान-अज्ञान दोनों के पार चले जाओ।"

बाबूराम ने हँसकर उत्तर दिया, "यही तो मैं चाहता हूँ।"

श्रीरामकृष्ण – "अच्छा है, पर दोनों तरफ़ का पकड़े रहने से क्या वह सम्भव है? यदि यही चाहता है, तो फिर उसे छोड़ आ।"

बाबूराम ने हँसते हुए कहा, "मुझे खींच लाइये।"

श्रीरामकृष्ण ने देखा कि बाबूराम को पूरे समय के लिए पास रख पाना कठिन होगा, क्योंकि उनके सगे-सम्बन्धी भी थे और उनकी ओर से बाधा आ सकती है। एक दिन मौका आ पहुँचा। बाबूराम की माता श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने दक्षिणेश्वर आयीं। मौका पाते ही श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम की माता से कहा, "अपने पुत्र बाबूराम को मुझे दे दो।" बाबूराम की माता भक्तिमती और श्रीरामकृष्ण के प्रति हृदय से अनुरागी थीं। इस पर दुखी न होकर वे नि:संकोच कह उठीं, "अहा, यह तो मेरा परम सौभाग्य होगा कि बाबूराम आपके पास रहे।" इसके बाद फिर कोई बाधा या भय की बात न रही। बाबूराम भी आनन्दपूर्वक निर्भय तथा नि:संकोच भाव से दक्षिणेश्वर आकर दिन-पर-दिन श्रीरामकृष्ण की सेवा करने लगे। ठाकुर का बाबूराम के प्रति इतना अधिक प्रेम था कि कभी कभी पंखा झलते हुए उनके सो जाने पर, ठाकुर उन्हें अपनी मसहरी के भीतर लाकर बिस्तर पर सुला देते। और कभी कभी वे दक्षिणेश्वर से मिठाइयाँ आदि ले जाकर कलकत्ते में बाबूराम को खिला आते।

१८८६ ई. के अगस्त में श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद उनके अधिकांश तरुण शिष्य अपने अपने घर लौट गये, पर ठाकुर ने उनके हृदय में जिस त्याग तथा ईश्वरप्रेम की अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, वह कभी बुझ नहीं सकी। कुछ महीनों के भीतर ही उनके नेता नरेन्द्रनाथ ने वराहनगर के एक खण्डहरनुमा मकान में सबको एकत्र करके साधन-भजन तथा पूजा-पाठ में दिन बिताना आरम्भ किया। उसी वर्ष बड़े दिन के अवसर पर नरेन्द्रनाथ ने अपने गुरुभाइयों के साथ बाबूराम के आँटपुर के मकान में कठोर तपस्या तथा साधना करते हुए एक सप्ताह से भी अधिक समय बिताया। इसी काल में बाबूराम के मकान में रहते समय गुरुभाइयों के मन में त्याग-तपस्या की प्रबल उद्दीपना जाग्रत हुई थी। आँटपुर से विदा लेने के कुछ दिनों बाद ही वराहनगर मठ में आकर उन लोगों ने संन्यास ग्रहण करने का संकल्प किया। नेता नरेन्द्रनाथ ने यथाशास्त्र विरजाहोम सम्पन्न करके गुरुभाइयों के साथ संन्यास-धर्म ग्रहण किया। संन्यास के बाद नरेन्द्रनाथ ने बाबूराम को 'प्रेमानन्द' नाम प्रदान किया। कृष्णप्रिया 'श्रीराधा के अंश से बाबूराम ने जन्म लिया है' – श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति का स्मरण करते हुए ही नरेन्द्रनाथ ने उन्हें 'प्रेमानन्द' नाम दिया था।

श्रीरामकृष्ण के इन त्यागी शिष्यों ने लगभग छह वर्ष तक वराहनगर मठ में निवास किया था। शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) ठाकुर की पूजा-सेवा में लगे रहते थे। उनके धर्मप्रचारार्थ मद्रास भेज दिये जाने के बाद बाबूराम महाराज ने सहर्ष ठाकुरसेवा का

कार्य स्वीकार किया। स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से लौटकर बेलूड़ मठ स्थापित करने पर बाबूराम उनके साथ मठ में निवास करने लगे। स्वामीजी का बाबूराम के साथ बड़ा लगाव था। बेलूड़ मठ में नियम बनाया गया था कि कोई दिन में नहीं सो सकेगा। बाबूराम महाराज को एक बार दिन में नींद आ जाने पर स्वामीजी के आदेशानुसार उन्हें निद्रावस्था में ही खींचकर उठाया गया। संध्या के बाद बाबूराम महाराज जब स्वामीजी के बरामदे में आये, तो स्वामीजी तत्काल बाबूराम महाराज का हाथ पकड़कर गद्गद कण्ठ तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ बोले, "भाई, ठाकुर तुमसे कितना प्रेम और तुम्हारा कितना आदर-यत्न करते थे! मैंने तुम्हें अनुचित रूप से कष्ट दिया है।" ऐसा कहकर वे एक बच्चे के समान रो उठे। बाबूराम महाराज ने बड़ी कठिनाई के साथ स्वामीजी को सांत्वना प्रदान की।

स्वामी विवेकानन्द के देहत्याग के उपरान्त रामकृष्ण मठ तथा मिशन के संचालन का भार स्वामी ब्रह्मानन्द के ऊपर आ पड़ा। ब्रह्मानन्द महाराज को कई बार मठ के कार्यवश भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करनी पड़ती थी। उनकी अनुपस्थिति के दौरान बाबूराम महाराज ही बेलूड़ मठ की व्यवस्था का भार ग्रहण करते। ठाकुर-सेवा, संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों को शिक्षादान, अतिथि तथा आगन्तुकों की देखभाल, रसोईघर की व्यवस्था, गोसेवा, उद्यान में फल-फूल तथा शाक-सब्जियों के खेती का प्रबन्ध आदि मठ के समस्त कार्य वे अत्यन्त निपुणता तथा आनन्दपूर्वक सम्पादित किया करते थे। इसमें उन्हें जरा-सा भी थकावट होना तो दूर, बल्कि आनन्द का ही बोध होता। किसी अतिथि, आगन्तुक या दर्शक के आने पर वे अत्यन्त प्रेम के साथ उनका स्वागत करते और मठ में मन्दिर आदि का दर्शन कराने तथा प्रसाद आदि देने के बाद वे उन्हें ठाकुर-स्वामीजी के पवित्र जीवन के आदर्श पर अपना जीवन गढ़कर धन्य तथा कृतार्थ होने की प्रेरणा देते। आगन्तुक तथा अतिथिगण भी उनके प्रेम के आकर्षण से मुग्ध होकर एक नवीन जीवनालोक लेकर घर लौटते। प्रेम की आकर्षण शक्ति कितनी प्रबल है! यह नास्तिक तथा शंकाग्रस्त लोगों को भी भगवद्भक्त बना डालती है। कई बार देखा गया है कि बेलूड़ मठ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों का मध्याह्न भोजन समाप्त हो जाने के बाद भी, यदि कोई गृही भक्त कहीं दूर से आ पहुँचता, तो बाबूराम महाराज रसोईघर में जाकर स्वयं ही भोजन पकाने लगते। उनके इस दृष्टान्त से प्रेरित होकर तरुण संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण भी उनके इस कार्य में सहायता करने में लग जाते। 'स्वयं आचरण करे धर्म का, औरों को सिखलाए' – चैतन्यदेव की इस उक्ति के बाबूराम महाराज एक ज्वलन्त निदर्शन थे।

बेलूड़ मठ के संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों के प्रति स्वामी प्रेमानन्दजी हृदय से प्रेम करते थे। जैसे एक माँ अपने बच्चों से प्रेम तथा उनकी देखभाल करती है, बाबूराम महाराज भी उसी प्रकार समस्त मठवासियों से प्रेम तथा उनकी देखभाल करते थे। उन्हें मठ की 'माँ' कहना भी अनुचित न होगा। युवा ब्रह्मचारी तथा संन्यासियों के चरित्र-गठन के सन्दर्भ में वे कोमलता और कठोरता – दोनों ही भाव अपनाते थे। किसी को कोई अनुचित कार्य करते देखने पर वे उससे विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करते थे। दूसरों के द्वारा किया हुआ अनुचित कर्म वे अपना स्वयं का किया हुआ मानते और भगवान से सबको सुमति देने की प्रार्थना करते। वे कहते, "प्रभो, तुम्हीं तो सब हो – तुम्हीं सर्वभूतों में विराजमान हो। मैं किसका तिरस्कार करूँ?" परन्तु इस विनय तथा कोमलता के बावजूद जरूरत होने पर वे

संन्यासी-ब्रह्मचारियों के जीवनगठन के विषय में कठोरता दिखाने में भी कभी आगा-पीछा नहीं करते। यदि कोई उनके उपदेशों के अनुसार चलने में त्रुटि करता, तो वे सदैव ही कठोरतापूर्वक उसके दोषों का संशोधन करने को प्रस्तुत रहते। दोष को सुधारने के बाद वे फिर अपने स्वभावसुलभ प्रेम के द्वारा तथा मिष्ठान्न आदि खिलाकर उसे सन्तुष्ट कर देते। यह प्रेम ही उनके चरित्र का विशेष गुण था। उनकी सतत इच्छा रहती कि मठ के सभी कर्मी प्रत्येक कार्य में दक्ष हों और समस्त लोगों के प्रति सज्जनता तथा कोमलतापूर्ण आचरण करें। श्रीठाकुर के अपूर्व त्याग, वैराग्य, प्रेमोन्माद, सत्यनिष्ठा, कठोर तप और सर्वोपरि उनकी असीम पवित्रता का उल्लेख करते हुए, वे सबको सर्वदा उसी आदर्श के अनुरूप जीवनगठन करने में उत्साहित किया करते थे।

बाबूराम महाराज में सहनशीलता भी अद्भुत थी। इस अपूर्व सहिष्णुता तथा क्षमा के प्रभाव से ही वे बेलूड़ मठ की व्यवस्था आदि का सुचारु रूप से संचालन कर सके थे। उन्होंने कई बार कहा था, "ध्यान-जप समाप्त करके जब मैं मन्दिर से नीचे उतरता, तब मैं बारम्बार ठाकुर के इस मंत्र का उच्चारण करता – 'श, स, ष। सहन करो, सहन करो, सहन करो। जो सहता है, सो रहता है, जो सहता नहीं, उसका विनाश हो जाता है'।" सचमुच ही वे सहनशीलता की प्रतिमूर्ति थे।

कोई घोर पापी हो, तो भी बाबूराम महाराज उसे दूर या निराश नहीं करते थे। प्रेम का लक्षण यही है कि वह किसी को भी अस्वीकार नहीं करता – सभी लोग जिसे त्याग देते हैं, प्रेम उसे अङ्गीकार कर लेता है। स्वामी प्रेमानन्द यथार्थ प्रेमिक थे, इसीलिए वे पापोन्मुखी व्यक्ति को भी उपदेश देकर सन्मार्ग पर खींच लाते थे। एक बार कलकत्ते के एक सद्वंश का युवक विपथगामी होने के बाद स्वामी प्रेमानन्द के शरणागत हुआ। प्रेमानन्दजी ने सदुपदेश के द्वारा उसके चरित्र में अद्भुत परिवर्तन ला दिया। बाबूराम महाराज के देवोपम चरित्र के सम्पर्क में आकर यह युवक अन्ततः संसार त्यागकर संन्यास-धर्म में दीक्षित हो गया। इसी प्रकार उन्होंने बहुत-से युवकों के चरित्र-गठन में सहायता की थी।

युवकों के प्रति बाबूराम का विशेष लगाव था। युवकगण भी उनके चारित्रिक माधुर्य पर मुग्ध हो जाते। ग्रीष्मावकाश अथवा अन्य लम्बी छुट्टियों के दौरान जब स्कूल-कॉलेज के छात्र बेलूड़ मठ में उनके पास आते, तो वे उन्हें बड़े प्रेम के साथ खिलाते और श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के जीवनादर्श के अनुसार जीवनगठन में उत्साहित करते। ये युवकगण भी चिरकाल के लिए उनके गुलाम हो जाते। बेलूड़ मठ के अनेक संन्यासी इसी प्रकार अपने प्रारम्भिक जीवन में परिवर्तन लाने के लिए प्रेमानन्दजी के ऋणी हैं।

बाबूराम महाराज नारीमात्र को ही साक्षात जगदम्बा की प्रतिमूर्ति के रूप में देखते और उनके प्रति अतिशय श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते। जब कोई भक्त-महिला उनके पास आतीं, तो वे खड़े होकर उन्हें सम्मान देते तथा उनके बैठने के पूर्व स्वयं भी आसन ग्रहण नहीं करते। वे सर्वदा नारीजाति के कल्याण की कामना करते और विश्वासपूर्वक कहते कि समाज की प्रगति नारीजाति की सर्वांगीण उन्नति पर ही निर्भर है। वे उन्हें भक्तिमती, निःस्वार्थ तथा पवित्रहृदय होने का उपदेश देते और बीच-बीच में पत्र लिखकर सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती आदि साध्वी नारियों के आदर्श के अनुसार जीवनगठन करने को कहते। इसके अतिरिक्त वे उन्हें चैतन्य-चरितामृत, गीता, भागवत, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, महाभारत, रामायण आदि धर्मग्रन्थ पाठ करने का भी उपदेश दिया करते थे।

अपनी सुख-सुविधा की ओर उनका जरा भी ध्यान नहीं रहता था। भोजन के लिए बैठने पर अपनी थाली से सर्वाधिक स्वादिष्ट खाद्यपदार्थों को वे ब्रह्मचारियों तथा तरुण संन्यासियों के बीच वितरण कर देते। वेशभूषा आदि की ओर भी उनका ख्याल नहीं रहता था। जब वे अस्वस्थ होकर देवघर में निवास कर रहे थे, उस समय एक भक्त ने उनके उपयोग के लिए चार कुर्ते दिये थे। इसकी सूचना मिलने पर, उन्होंने सेवक को खरी-खोटी सुनाते हुए कहा, "मैं स्वयं कभी इतने कुर्तों का उपयोग नहीं करता और फिर संन्यासी के लिए इतने वस्त्र आदि का उपयोग करना शोभा नहीं देता।" उनके देहत्याग के उपरान्त उनके कमरे में कैनवास की एक थैली तथा कुछ पुस्तकों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिला था। उनकी जीवनयात्रा की प्रणाली इतनी सरल तथा अनाडम्बर थी!

लगभग छह सुदीर्घ वर्षों तक स्वामी प्रेमानन्द बेलूड़ मठ के संचालन के कार्य में लगे रहे। १९११ ई. में वे अपने दो गुरुभाइयों – स्वामी शिवानन्द तथा स्वामी तुरीयानन्द के साथ अमरनाथ-दर्शन करने काश्मीर गये। तीर्थाटन से लौटने के बाद उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों में श्रीरामकृष्ण के सार्वभौम सन्देश के प्रचार-कार्य में मनोनियोग किया। पूर्वी बंगाल भी उनकी पूत चरणधूलि से पवित्र हुआ था। वहाँ के विभिन्न स्थानों में वे अनेकों बार प्रचार करने गये थे। वे जहाँ कहीं भी पदार्पण करते, वहीं आबालवृद्धवनिता सभी में एक अपूर्व उत्साह तथा प्रेरणा दृष्टिगोचर होने लगता। १९१७ ई. में वे अन्तिम बार पूर्वी बंगाल गये। किसी उत्सव के उपलक्ष्य में कुछ भक्तों के अतिशय आग्रह पर उनका मैमनसिंह जिले के घरिन्दा ग्राम में शुभागमन हुआ। उनके असीम प्रेम तथा सुमधुर व्यक्तित्व से हिन्दू-मुसलमान – सभी आकृष्ट तथा मुग्ध हुए। घरिन्दा से वे नेत्रकोना गये। फिर नेत्रकोना से मैमनसिंह जाने के मार्ग में एक हृदयस्पर्शी घटना हुई थी। स्वामी प्रेमानन्द के साथ चलनेवाले लोग थोड़ा आगे आगे चल रहे थे और उनकी पालकी पीछे पीछे चल रही थी। नेत्रकोना से चलकर थोड़ी दूर जाते ही कुछ ग्रामवासियों ने उनका दर्शन करने के लिए उनकी पालकी रोक ली। ग्रामवासियों को दर्शन तथा आशीर्वाद देने के बाद वे किसी भी प्रकार वह स्थान छोड़कर अग्रसर नहीं हो सके। सभी ग्रामवासी इन प्रेमी संन्यासी को विविध प्रकार के फल भेंट करके धन्य हुए।

मैमनसिंह से बाबूराम महाराज ने ढाका में पदार्पण किया। ढाका में उन्होंने कई दिन निवास किया। भक्तों के आकुल आह्वान पर उन्होंने नारायणगंज, सोनारगाँव तथा विक्रमपुर के हासरा, राढ़ीखाल, कलमा आदि गाँवों का परिदर्शन किया। इन सारे स्थानों पर उनके शुभागमन से सभी श्रेणी के लोगों के बीच विपुल उत्साह तथा प्रेरणा दीख पड़ी थी। सभी लोग उनके चरित्र के माधुर्य से विशेष आकृष्ट हुए। विक्रमपुर के हासरा ग्राम में जलकुम्भियों से तालाब का जल खराब होते देखकर उन्होंने युवकों को तालाब की सफाई का आदेश दिया। फिर उन्हें स्वयं ही इस कार्य में अग्रसर होते देखकर, युवकों ने उनके आदर्श से अनुप्राणित होकर तत्काल तालाब की सफाई कर डाली। तब से युवकों ने एक संघ का गठन करके विक्रमपुर अंचल के विभिन्न ग्रामों के तालाबों में फैले जलकुम्भियों की सफाई के लिए कमर कस लिया था।

इसी प्रकार बाबूराम महाराज दो-तीन माह पूर्वी बंगाल के गाँव गाँव में प्रचारकार्य में लगे रहे और भीषण ज्वर से ग्रस्त होकर बेलूड़ मठ लौटे। चिकित्सकों के परामर्श पर स्वास्थ्य-सुधार हेतु उन्हें देवघर भेजा गया। सुदीर्घ डेढ़ वर्षों तक इस बुखार से शय्याग्रस्त रहकर

आरोग्यलाभ की ओर उन्मुख होने के बाद वे सहसा पुन: भीषण इन्फ्लुएंजा रोग से आक्रान्त हुए। चिकित्सा के लिए उन्हें कलकत्ते के भक्त बलराम बोस के घर में रखा गया। कलकत्ते के विशिष्ट तथा अनुभवी चिकित्सकगण उनकी चिकित्सा करने लगे, परन्तु अब उनके ठीक होने की कोई आशा नहीं थी। मंगलवार, ३० जुलाई, १९१८ ई. के दिन अपराह्न में अपने गुरुभ्राताओं, संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों के सामने ही, श्रीरामकृष्ण के इन पार्षद प्रेमी महापुरुष ने महासमाधि के द्वारा अपना नश्वर शरीर त्यागकर परमपद प्राप्त किया। उनके मृत शरीर को बेलूड़ मठ में लाकर यथारीति संस्कार किया गया। ❑

एशिया और यूरोप

एशिया की आवाज सदैव धर्म की आवाज रही है और यूरोप सदैव राजनीति की भाषा बोलता रहा है। अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही महान् हैं। यूनानी अपने समाज को ही सर्वस्व और सर्वोच्च मानते थे। यही यूनान परवर्ती यूरोप का आचार्य था और इसीलिए आज के यूरोप की वाणी यूनान की वाणी का प्रतिध्वनि मात्र है। एशिया की आवाज इससे भिन्न है।

उस प्रकाण्ड भूखण्ड, उस विशाल महादेश की जरा कल्पना तो करो, जिसके शैल-शिखर बादलों को चीरकर आकाश की नीलिमा को चूमते रहते हैं; जिसके अंक में एक ओर अनन्त बालुका-राशि पड़ी है, जिसमें एक बूँद भी पानी मिलना असम्भव है, कोसों तक एक हरित तृण के दर्शन होना भी दुर्लभ है और दूसरी ओर अनन्त वन एवं महानदियाँ अठखेलियाँ करती समुद्र की ओर बहती जाती हैं। इस परिवेश में एशिया-वासियों का सौंदर्य और उदात्त के प्रति प्रेम बिल्कुल भिन्न दिशा में विकसित हुआ। बहिर्दृष्टि त्यागकर वे लोग अन्तर्दृष्टि-परायण हो गये। ... युगों से पूरब कई जातियों के जीवन का रंगमंच रहा है। उसने एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य को उठते और फिर गिरकर मिट्टी में मिलते देखा है; मानवीय शक्ति, प्रभुत्व, ऐश्वर्य तथा धनराशि को अपने कदमों में लुढ़कते और न्यौछावर होते देखा है। अनन्त विद्या, असीम शक्ति तथा अनेकानेक साम्राज्यों की विशाल-भूमि – यह है प्राच्य भूमि का परिचय। कोई आश्चर्य नहीं, यदि पूरब के निवासी इस जगत् की वस्तुओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखें और स्वभावत: किसी ऐसी वस्तु के दर्शन की चिर अभिलाषा उनके हृदय में अंकुरित हो जाय, जो अपरिवर्तनशील हो, जो अविनाशी हो, जो इस विनाशशील तथा दु:खपूर्ण संसार में अमर तथा नित्य आनन्दपूर्ण हो। पूरब के महापुरुष इन आदर्शों की घोषणा करते कभी नहीं थकते – और जहाँ तक महापुरुषों तथा अवतारों का प्रश्न है, उनमें सभी निर्विवाद रूप से प्राच्यदेशीय हैं।

पाश्चात्य देशों के निवासी अपने कार्यक्षेत्र में – सामरिक, राजनीतिक आदि कार्यों के संचालन में अपनी दक्षता तथा व्यावहारिकता का परिचय देते हैं। पूरब का निवासी भी अपने क्षेत्र में – अपने जीवन को धर्म पर आधारित करने में उतना ही कार्यदक्ष है।

– स्वामी विवेकानन्द

स्वामी निर्वेदानन्द

१५. संस्थाओं के प्रकार (जारी)

निर्धन मध्यवर्ग तथा आम जनता के लिए

प्रकार – ७

निर्धन मध्यवर्गीय बालकों के लिए संस्थाएँ

सिद्धान्तत: निर्धन मध्यवर्ग परिवारों से आनेवाले बालकों को प्रथमत: उनके परिवारों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए सज्जित किया जाना चाहिए, और इस प्रकार कि शिक्षा के बाद उन्हें इसमें कम-से-कम समय तथा शक्ति खर्च करनी पड़े ।

अत: एक अनाथालय या उन्हीं के लिए बनी किसी संस्था में किताबी शिक्षा के स्थान पर व्यावसायिक शिक्षा पर ही अधिक बल दिया जाय । वैसे उनमें से असामान्य रूप से प्रतिभाशाली बच्चों को अपवाद माना जा सकता है । इस श्रेणी के अधिकांश औसत बालकों के लिए मन तथा बुद्धि का प्राथमिक प्रशिक्षण, लिखने-पढ़ने तथा गणित का प्रारम्भिक ज्ञान, वार्तालापों तथा व्याख्यानों के द्वारा एक सामान्य बोध और इसके साथ ही एक या दो प्रकार की दस्तकारियों का ठोस व्यावहारिक ज्ञान यथेष्ट होगा ।

अत: एक अनाथालय के सभी बच्चों को, उनकी क्षमताओं पर ध्यान दिये बिना हाई स्कूल नहीं भेजा जाना चाहिए, क्योंकि यह समय, शक्ति तथा जनता के धन का व्यर्थ अपव्यय सिद्ध होगा । ऊपर जो कुछ भी कहा गया है, उसे ध्यान में रखते हुए आठ वर्षों का एक प्राथमिक पाठ्यक्रम उनमें से अधिकांश के लिए पर्याप्त होगा, और इसे निर्धन बालकों की शिक्षा में लगे हुए विभिन्न राष्ट्रीय संगठनों द्वारा चलायी जा रही संस्थाओं में प्रयोगों के द्वारा विकसित करना होगा । फिर, उनकी शिक्षा के एक प्रमुख अंग बननेवाले व्यावसायिक प्रशिक्षण के विषय में, हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि हमारे मध्य-वर्गीय बच्चे सामान्यतया शारीरिक दृष्टि से इतने सबल नहीं होते कि वे बढ़ई या लोहार या यहाँ तक कि जुलाहे का व्यवसाय भी चला सकें । अत: बढ़ई या लोहार तथा बुनाई का कार्य केवल उन्हीं को सिखाया जाय, जो शारीरिक दृष्टि से इसके लिए उपयुक्त हों । औसत मध्यवर्गीय बालकों के लिए कम शारीरिक श्रम की अपेक्षा रखनेवाले व्यवसायों के प्रशिक्षण की व्यवस्था काफी जरूरी है । उदाहरण के लिए, इनमें से बहुतों के लिए दन्त-चिकित्सक या नक्काशी का व्यवसाय उपयुक्त हो सकता है; अथवा विभिन्न प्रकार के मरम्मत के कार्यों में विशेषज्ञता के रूप में बहुत से उपयुक्त व्यवसायों के अवसर प्राप्त हो सकते हैं ।

चूँकि ऐसी संस्थाओं के लिए बड़ी संख्या में व्यवसायों के प्रशिक्षण के लिए समुचित व्यवस्था करने में असुविधा हो सकती है, फिलहाल वे अपने कुछ छात्रों को, कारखानों, प्रयोगशालाओं तथा व्यवसायिक स्थानों पर विशेषज्ञों के अधीन रख सकते है और कुछ अन्य को विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक स्कूलों में भेज सकते हैं ।

फिर इन संस्थाओं में ऐसा कुछ न हो, जिससे निर्धन बालकों में निराशा उत्पन्न होने की सम्भावना हो। अच्छा तो यह होगा कि अनाथालय या इस तरह के नामों का भी प्रयोग न हो। उन्हें ऐसा महसूस न होने दिया जाय कि वे दयनीय बालक हैं। सिद्धान्तत: ऐसे बच्चों से दान न एकत्र करवाया जाय – निश्चित रूप से यह कर्मियों या स्वयंसेवकों का कार्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, चूँकि एक दातव्य संस्था में निर्धन बालकों का अलगाव उनमें निराशा पैदा कर सकता है, यदि सम्भव हो तो सीमित संख्या में शुल्क देनेवाले छात्रों की भर्ती करके इस संस्थाओं के शैक्षणिक महत्त्व में भी काफी वृद्धि की जा सकती है।

आम जनता की शिक्षा के माध्यम

मध्यवर्गीय बालक तथा युवक अपनी क्षमता तथा सुविधा के अनुसार आम जनता के साथ सहानुभूति रखकर उनकी उन्नति के लिए कार्य कर सकें – इसके लिए उपरोक्त प्रकार की विभिन्न संस्थाओं के द्वारा जो कुछ आवश्यक है, वह करने के अतिरिक्त प्रत्येक राष्ट्रीय संगठन को, जहाँ तक सम्भव हो, ग्रामीण क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के उद्देश्य से ही स्थापित ग्राम्य केन्द्रों के माध्यम से आम जनता में शिक्षा-प्रसार हेतु कुछ प्रत्यक्ष प्रयास भी करना चाहिए। निश्चित रूप से ऐसे ग्राम-केन्द्र आसपास की जनता की आवश्यकतानुसार भोजन तथा औषधियों के साथ, एक तरह का सामान्य शिक्षा देंगे। ऐसा प्रत्येक केन्द्र, प्रत्यक्ष रूप से अथवा रुचि लेनेवाले स्थानीय लोगों के माध्यम से, जनसाधारण में शिक्षा-विस्तार हेतु यथासम्भव निम्नलिखित साधनों का उपयोग करने के लिए उपयुक्त उपाय करेगा।

प्रकार संख्या ८ (क) मुफ्त प्राथमिक स्कूल

यह मूलत: कृषि तथा अन्य हस्तशिल्पों का एक प्राथमिक स्कूल हो, जिसके साथ सामान्य सांस्कृतिक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी समायोजित की जाय। छात्रों पर एक स्थायी प्रभाव डालने के लिए इसमें आठ वर्ष का या जैसा कि वर्धा योजना में सुझाया गया है, कम-से-कम सात वर्ष का पाठ्यक्रम हो और उसे प्रकार संख्या ३ (ख) तथा ३ (ग) के सन्दर्भ में उल्लेखित अलग अलग दिनचर्या, पाठ्यक्रम आदि के साथ, जूनियर बेसिक तथा सीनियर बेसिक के रूप में दो भागों में बाँट दिया जाय।

इस सन्दर्भ यह स्मरणीय है कि इन स्कूलों में छात्रों को उनके प्राचीन भाषा के तत्त्व सिखाने की विशेष व्यवस्था की जाय। उन्हें सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत करने में यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। हिन्दुओं की संस्कृति संस्कृत में पगी हुई है, अत: उनकी सांस्कृतिक उन्नति के लिए इस भाषा का प्राथमिक ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार मुस्लिम जनता के लिए एक सांस्कृतिक उपकरण के रूप में अरबी भाषा का ज्ञान जरूरी है। दोनों सम्प्रदायों के प्राचीन भाषाओं में लिखे हुए उनके धर्मग्रन्थ आम जनता के लिए बन्द रह जाते हैं, और बहुधा छली पुरोहितों द्वारा उन्हें मूर्ख तथा शोषण का शिकार बनाया जाता है, जिनमें से अधिकांश के पास संस्कृत या अरबी भाषा का केवल सतही ज्ञान ही होता है। यहाँ तक कि अपने प्राचीन भाषा का यदि उनके पास प्राथमिक ज्ञान भी हो, तो वे अपने दुरवस्था पर विजय पा सकते हैं और सामाजिक सम्मान तथा विशेषाधिकार के मामले में स्वयं ही अपना ख्याल रख सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द निम्न जाति के हिन्दुओं से कहते हैं, "पिछड़ी जाति के लोगो, मैं तुम्हें बताता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है।"

प्रकार संख्या – ८ (ख) निशा-विद्यालय

इसका उद्देश्य केवल साक्षरता का प्रसार करना तथा साथ ही चित्रों, चार्टों, व्याख्यानों तथा वार्तालापों के माध्यम से सामान्य ज्ञान कराना है और यह मुख्यत: दिन में काम करनेवाले प्रौढ़ों के लिए है।

प्रकार संख्या – ८ (ग)

स्लाइड व्याख्यानों के द्वारा काफी बड़ी मात्रा में प्रभावी कार्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में शैक्षणिक फिल्मों तथा रेडियों के उपयुक्त कार्यक्रमों को भी लाभकारी ढंग से उपयोग किया जा सकता है। एक नये प्रकार की (पौराणिक) कथा के रूप में शैक्षणिक विषयों पर यथाविधि गीतों तथा कथा के साथ स्लाइडों, फिल्मों के कार्यक्रम आम जनता के लिए सामान्य ज्ञान के लिए एक अत्युत्तम उपाय सिद्ध हो सकता है। इन साधनों के द्वारा, विशेषकर प्रौढ़ों को; स्थान, काल तथा कारण से क्रमश: सम्बन्धित आधुनिक ज्ञान के तीन घटकों — इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान के मूल तत्त्वों से परिचित कराया जाना चाहिए। इनके साथ ही उन्हें उनके धर्म पर आधारित उनके विशिष्ट संस्कृति के मूलभूत भावों तथा आदर्शों की जानकारी भी दी जानी चाहिए।

प्रकार संख्या – ८ (घ) प्रदर्शनी

पुरस्कार वितरण के द्वारा कृषि, गृह-उद्योग आदि में सुधार को प्रोत्साहित करने के लिए आसपास होनेवाले उत्सवों या मेलों के दौरान इनका आयोजन किया जा सकता है। ऐसे अवसरों पर स्लाइड-व्याख्यान, शैक्षणिक फिल्म तथा उपयुक्त रेडियो कार्यक्रम काफी लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं।

प्रकार संख्या – ८ (ङ) नि:शुल्क पुस्तकालय

निर्धन जनता के लिए बने ऐसे पुस्तकालयों में बेकार के उपन्यास तथा कहानी की पुस्तकें नहीं, बल्कि ज्ञानवर्धक तथा प्रेरक पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ रखी जानी चाहिए।

प्रकार संख्या – ८ (च) संग्रहालय

कृषि से सम्बन्धित, औद्योगिक तथा व्यावसायिक वस्तुओं, मशीनों तथा यंत्रों और चित्रमय चार्टों आदि का प्रदर्शन करनेवाले एक ग्रामीण संग्रहालय में असीम शैक्षणिक सम्भावनाएँ निहित हैं।

प्रकार संख्या – ८ (छ) प्रदर्शनी खेती

खेती तथा उससे सम्बन्धित उद्योगों की सुधरी हुई पद्धतियों को दिखाने तथा समझाने के लिए प्रत्येक महत्वपूर्ण गाँव में एक फार्म हो।

आम जनता में सही प्रकार की शिक्षा के प्रसार में उपरोक्त सभी साधन बड़े उपयोगी हैं और आनन्द की बात यह है कि हमारी वर्तमान राष्ट्रीय सरकार इस विषय में सचेत लगती है। इस देश के प्रत्येक समाज-सेवी संगठन को चाहिए कि वह इन विभिन्न साधनों के द्वारा जितना भी अधिक हो सके, कार्य करे। नि:सन्देह, जनशिक्षा का कार्य बहुत विशाल है। परन्तु यह एक पवित्र तथा अत्यन्त आवश्यक कार्य है। आइये अदम्य उत्साह के साथ हम इसमें लग जायँ। हमारी कामना है कि हमारे प्रयास इस कार्य के अनुरूप सिद्ध हों।

□ (समाप्त) □

प्रत्युपकार और कृतघ्नता

भैरवदत्त उपाध्याय

उपकार के प्रति कृतज्ञ अथवा एहसानमन्द होना और उसके उपकार के बदले उपकार करना; मनुष्य का ही नहीं, पशु-पक्षियों का भी सामान्य गुण है। यह गुण गाय, बैल एवं कुत्ता जैसे पालित पशुओं, सिंह जैसे हिंसक जीवों और तोता, मैना, कबूतर आदि पक्षियों में भी परिलक्षित होता है किन्तु अपकारी के प्रति भी उपकारी बनना केवल मानव का ही विशिष्ट गुण है। यदि मानव में इस विशिष्ट गुण की अपेक्षा एवं आकांक्षा न भी हो, तो भी प्रत्युपकारिता के सहज गुण का विलोप मानव-समाज को कदापि स्वीकार्य नहीं है। कृतघ्नता अथवा एहसानफरामोशी एक ऐसा पाप है, जिसके प्रायश्चित का विधान किसी भी धर्मशास्त्र ने नहीं किया। कृतज्ञता आत्मविक्रय नहीं है, वह तो उपकार के उत्तर में स्वयं प्रतिध्वनित होनेवाली आत्म-स्वीकृति है। कृतज्ञता-ज्ञापन से उपकारी को उपकार पात्र की सुपात्रता का परिज्ञान होकर एक अपूर्व सन्तोष एवं आनन्द की अनुभूति होती है। उपकार भी व्यक्ति के क्रय अथवा शोषण का अस्त्र नहीं है और प्रत्युपकार एक ऐसी प्रतिक्रिया है, जो उपकार के प्रति मानव की अन्तश्चेतना से स्वाभाविक रूप में उद्गमित होकर उसे उस दिशा में प्रवृत्त करती है। प्रत्युपकार में व्यक्ति श्रद्धा और प्रेम से संबलित होकर उपकारी के प्रति अपने कुछ कर्त्तव्य का निर्वाह करना चाहता है। वह उपकार को निःशेष करने की क्रिया नहीं है और न उपकारी को प्रत्युपकार-रूपी फल की आकांक्षा ही होनी चाहिए।

मानव-जीवन उपकारों की धरा पर विकसित होनेवाला एक वृक्ष है। जिसके अस्तित्व की कल्पना बिना उपकारों के सम्भव नहीं है। संसार एक ऐसा सरोवर है, जिसने अपनी सम्पूर्ण विभूतियों को राजहंस के उपकार के हेतु समर्पित कर दिया है। मानव इस संसार सरोवर का राजहंस है। कृतज्ञता जिसका गुण है और प्रत्युपकार कर्त्तव्य। अकृतज्ञ और प्रत्युपकार-शून्य लम्बे जीवन की अपेक्षा क्षणभर का कृतज्ञ तथा प्रत्युपकारी जीवन हमारे समाज का आदर्श, संस्कृति का प्रतीक और सभ्यता का निदर्शन है। एक उदाहरण प्रस्तुत है - मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम वन जाते समय पुण्यतोया भगवता गंगा को केवट की नौका पर चढ़ कर पार करते हैं। तदनन्तर उनके मन में केवट के प्रति कृतज्ञता के भाव जागरित होते हैं और प्रत्युपकार में उसे कुछ देना चाहते हैं। जानकीजी अपने हाथ से अँगूठी उतारकर दे देती हैं। सीताजी की खोज खबर लानेवाले हनुमानजी के प्रति भी श्रीरामजी कृतज्ञता से पुलकित हैं और ऋणी हैं -

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहि कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउ करि विचार मन माहीं॥

प्रश्न है कि रूप, बल और वैभव की श्री से मण्डित राजहंस-मानव इस संसार-सरोवर के अनन्त उपकारों का कौन-सा प्रत्युपकार करेगा ?

भुक्ता मृणाल पटली भवता निपीतान्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः॥

रे राजहंस! तूने जिस सरोवर में रहकर कमल-दण्डों को खाया, जिसके मधुर जल से अपनी तृषा को शान्त किया और जिसके कमलों के सुखद आश्रम में जीवन सानन्द बिताया। बता, उस सरोवर के उपकारों का बदला तू किस कार्य से देगा? □

ईशावास्योपनिषद् (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनानत वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु उपनिषदों पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से सबसे लघु तथा शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के रूप में प्राप्त ईश या ईशावास्य उपनिषद् पर लिखे शांकर-भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद का यह अन्तिम अंश है। व्याकरण के नियमानुसार गद्य में सन्धि का प्रयोग वैकल्पिक है, अत: यहाँ हमने सामान्य अध्येताओं के लिए भाष्य की कठिन सन्धियों को तोड़कर सरल रूप देने का प्रयास किया है। – सं.)

उपासक की मार्ग याचना -

मानुष-दैव-वित्त-साध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलय-अन्तम्। एतावती संसार-गतिः। अतः परं पूर्वोक्तं 'आत्मा-एव-अभूद्-विजानतः' इति सर्वात्म-भाव एव सर्व-एषणा-संन्यास-ज्ञाननिष्ठा-फलम्। एवं द्वि-प्रकारः प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणो वेदार्थो अत्र प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्ति-लक्षणस्य वेदार्थस्य विधि-प्रतिषेध-लक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्य-अन्तं ब्राह्मणम् उपयुक्तम्। निवृत्ति-लक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशने अतः ऊर्ध्वं बृहदारण्यकम् उपयुक्तम्।

शास्त्र में बताये हुए मानुषवित्त (कर्म) तथा दैववित्त (उपासना) से प्राप्त होनेवाले फल (स्वर्ग से लेकर) प्रकृतिलय पर्यन्त है। केवल यहीं तक संसार की गति है। इसके बाद पूर्वोक्त "सभी जीव अपनी आत्मा ही हो जाते हैं" (ईशा. ७) – के द्वारा सभी कामनाओं के त्याग से होनेवाली ज्ञाननिष्ठा का फल सर्वात्म-भाव ही बताया गया है। इस प्रकार प्रवृत्ति-लक्षण (कर्म) और निवृत्ति-लक्षण (त्याग) – ये दो प्रकार के वेदार्थ प्रदर्शित हुए हैं। इनमें विधि-निषेध लक्षणवाले प्रवृत्ति (कर्मकाण्ड) रूप वेदार्थ को समग्र रूप से व्यक्त करने में, प्रवर्ग्य-कर्म विषयक अंश तक का ब्राह्मण[1] प्रयुक्त हुआ है। उसके आगे का बृददारण्यक निवृत्ति (ज्ञान) रूप वेदार्थ के बोध में प्रयुक्त हुआ है।

तत्र निषेकादि-श्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद् यो विद्यया सह अपरब्रह्म-विषयया तद् उक्तं 'विद्यां च अविद्यां च यस्तद्-वेद-उभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति।

जो व्यक्ति वहाँ (ब्राह्मण अंश में) में गर्भाधान आरम्भ करके श्मशान में अन्त होनेवाले (वेदविहित) कर्मों के साथ अपर-ब्रह्म-विषयक (विद्या) उपासना करते हुए जीवित रहने का इच्छुक है, उसी के लिए कहा गया है – "जो कर्म और उपासना – दोनों को जानकर साथ साथ करता है, वह कर्म के द्वारा मृत्यु को पार करके उपासना के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर लेता है।" (ईशा. ११)

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो अध्याय प्रवर्ग्य-कर्मों का प्रतिपादन करनेवाले ब्राह्मण अंश कहे जाते हैं। (श्री कैलासपीठ के स्वामी विष्णुदेवानन्द जी गिरि द्वारा लिखित 'गोविन्द-प्रसादिनी' टिप्पणी से)

तत्र केन मार्गेण अमृतत्वम् अश्नुते इति उच्यते । 'तद्-यत्-तत्-सत्यम्-असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यः च अयं दक्षिणे अक्षन्पुरुषः' (बृ.उ. ५/५/२) । एतद्-उभयं सत्यम् ब्रह्म-उपासीनो यथोक्त-कर्मकृत् च यः सो अन्तकाले प्राप्ते सत्य-आत्मानं-आत्मनः प्राप्तिद्वारं याचते 'हिरणमयेन पात्रेण' इति ।

किस मार्ग से अमृतत्व की प्राप्ति करता है, अब वही बताते हैं – "जो सत्य (कार्यब्रह्म या हिरण्यगर्भ) है, वही आदित्य है । सूर्य-मण्डल में स्थित जो पुरुष है और (हमारे) दाहिने नेत्र में स्थित जो (ज्योतिरूप) पुरुष है" – जिन्होंने इन दोनों (पुरुषों) की सत्य (कार्यब्रह्म) के रूप में उपासना की है और (शास्त्रविहित) कर्मों का अनुष्ठान किया है, वे मृत्युकाल आ जाने पर 'हिरण्यमयेन पात्रेण' आदि मंत्रों के द्वारा सत्य-ब्रह्म से अपने (स्वरूप के) प्राप्तिद्वार (मार्ग) के लिए याचना करते हैं –

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

भावार्थ – स्वर्णिम पात्र के द्वारा सत्य (कार्य-ब्रह्म) का मुख ढँका हुआ है । हे जगत् के पोषक सूर्यदेव, मुझ सत्यधर्मा (उपासक) के दर्शन हेतु वह ढक्कन हटा दीजिए ।

भाष्य – हिरणमयम् इव हिरणमयं ज्योतिर्मयम् इति एतत् । तेन पात्रेण एव अपिधान-भूतेन सत्यस्य एव आदित्य-मण्डलस्थस्य ब्रह्मणो अपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम् । तत्-त्वं हे पूषन् अपावृणु अपसारय । सत्यधर्माय तव सत्यस्य उपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सो अहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यं अथवा यथाभूतस्य धर्मस्य अनुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मनः उपलब्धये ।।१५।।

हिरण्यमय अर्थात् स्वर्णपात्र के समान ज्योतिर्मय । उस ढक्कन के समान पात्र से सत्य अर्थात् आदित्य-मण्डल में स्थित ब्रह्म का मुख या द्वार आच्छादित है । हे सूर्यदेव, सत्य की उपासना करने से सत्य ही धर्म (स्वभाव) हो गया है जिसका, ऐसे मुझ सत्यधर्मा के लिए अथवा मुझ यथार्थ धर्म के अनुष्ठाता के द्वारा आपके सत्य-स्वरूप की प्राप्ति हेतु आप उसे (ढक्कन को) हटा दीजिए ।

प्रार्थना की विधि –

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो
यत्ते रूपं कल्यांणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।१६।।

भावार्थ – हे जगत्पोषक, हे एकाकी चलनेवाले, हे नियन्ता, हे सूर्य, हे प्रजापति के पुत्र, अपनी रश्मियों को हटा लीजिए; अपने तेज का संवरण कीजिए । आपका जो परम कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखूँगा । (सूर्य में स्थित) जो पुरुष है, वह मैं ही हूँ ।

भाष्य – हे पूषन् ! जगतः पोषणात् पूषा रविः तथा एक एव ऋषति गच्छति इति एकर्षिः – हे एकर्षे ! तथा सर्वस्य संयमनाद् यमः – हे यम ! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात् सूर्यः – हे सूर्य ! प्रजापतेः अपत्यं प्राजापत्यः – हे प्राजापत्य ! व्यूह विगमय रश्मीन् स्वान् । समूह एकीकुरु उपसंहर ते तेजः तापकं ज्योतिः ।

जगत् का पोषण करने के कारण सूर्य को पूषा कहते हैं; (अत:) हे पूषा! (गगन में) एकाकी विचरण करने के कारण वे एकर्षि कहे जाते हैं; (अत:) हे एकर्षि! सबका नियमन करने से वे यम कहलाते हैं; (अत:) हे यम! वैसे ही रश्मियों, प्राणों तथा रसों को खींच लेने के कारण वे सूर्य कहलाते हैं; (अत:) हे सूर्य! प्रजापति के पुत्र होने से वे प्राजापत्य हैं: (अत:) हे प्राजापत्य! अपनी रश्मियों को व्यूह अर्थात् हटाइये । अपने तेज अर्थात् ताप देनेवाले प्रकाश को एकत्र करके खींच लीजिए ।

यत्ते तव रूपं कल्याणतमम् अत्यन्त-शोभनं तत्ते तव आत्मनः प्रसादात् पश्यामि । किं च अहं न तु त्वां भृत्यवत् याचे यो असौ आदित्य-मण्डलस्थो व्याहृति-अवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णं वा अनेन प्राण-बुद्धि-आत्मना जगत्-समस्तं इति पुरुषः पुरि शयनात् वा पुरुषः सो अहम् अस्मि भवामि ।।१६।।

आपका जो परम कल्याणमय, अत्यन्त सुन्दर रूप है, उसे आपकी ही कृपा से मैं देखूँगा । और मैं कोई दास के समान आपसे याचना नहीं कर रहा हूँ, (बल्कि) सूर्य-मण्डल में व्याहृतियों-रूपी[२] अंगोंवाला जो पुरुष है – व्यक्ति का आकार होने से या प्राण-बुद्धि के रूप में समग्र जगत् को स्वयं से पूर्ण करने के कारण अथवा (हृदयरूपी) पुरी में शयन करने के कारण उसे पुरुष कहते है – वह (पुरुष) मैं ही हूँ ।

उपासक की मृत्यु के पूर्व प्रार्थना -

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ।।१७।।

भावार्थ – अब मेरा प्राण सर्वव्यापी वायु में विलीन हो जाय; मेरा शरीर भस्म में परिणत हो जाय । ॐ, हे मेरे मन! अब तक अपने द्वारा किये हुए कर्म तथा उपासनाओं का स्मरण करो, स्मरण करो ।

भाष्य - अथ इदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणो-अध्यात्म-परिच्छेदं हित्वा अधिदैवत्-आत्मानं सर्वात्मकम् अनिलम् अमृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतां इति वाक्यशेषः । लिङ्गं च इदं ज्ञान-कर्म-संस्कृतम्-उत्क्रामतु इति द्रष्टव्यम्, मार्ग याचन-सामर्थ्यात् । अथ इदं शरीरम् अग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात् ।

अब मुझ मरणासन्न की प्राण-वायु इस स्थूल शरीर की सीमा को त्यागकर अपने सर्वव्यापी अधिदैविक स्वरूप, समष्टि रूप अमर वायु अर्थात् सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) को प्राप्त करे । वाक्यपूर्ति के लिए 'प्राप्त करे' – इतना जोड़ लेना होगा । मार्ग के लिए याचना किया गया होने के कारण यहाँ समझना होगा कि कर्म तथा ज्ञान (उपासना) द्वारा संस्कारित सूक्ष्म शरीर बाहर निकल ज़ाय । इसके बाद आहुति के रूप में यह शरीर अग्नि में भस्मीभूत हो जाय ।

---

२. व्याहृतियाँ – भूः, भुवः तथा स्वः – ये तीन व्याहृतियाँ हैं । (तै. उप. १/५/१) इनमें से 'भूः' (पृथ्वी) उस पुरुष का सिर है, 'भुवः' (आकाश) उसकी दो भुजाएँ हैं और 'स्वः' (स्वर्ग) उसके दो चरण हैं । (बृह. उप. ५/५/३)

ओम् इति यथा उपासनम् ॐ प्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकम् अग्नि-आख्यं ब्रह्म-अभेदेन उच्यते । हे क्रतो सङ्कल्पात्मक स्मर यत् मम स्मर्त्तव्यं तस्य कालो अयं प्रत्युपस्थितो अतः स्मर । एतावन्तं कालं भावितं कृतम् अग्ने स्मर यत् मया बाल्यप्रभृति-अनुष्ठितं कर्म तत् च स्मर । क्रतो स्मर कृतं स्मर इति पुनः वचनम् आदरार्थम् ।।१७।।

वैदिक उपासना में ॐ अग्निसंज्ञक सत्यस्वरूप परमात्मा का प्रतीक होने के कारण उसे ब्रह्म से अभेद कहा गया है । हे क्रतो अर्थात् संकल्पात्मक मन! मेरे लिए जो स्मरणीय है, उसका स्मरण करो । उसका समय आ पहुँचा है, अत: स्मरण करो । अब हे अग्नि! अब तक मेरे द्वारा जो कुछ चिन्तन हुआ है, उसका स्मरण कीजिए और बचपन से (आज तक) मेरे द्वारा जिन कर्मों का अनुष्ठान हुआ है, उनका भी स्मरण कीजिए । 'क्रतो स्मर कृतं स्मर' – इसकी पुनरुक्ति तीव्र उत्कण्ठा का बोधक है ।

पुनः अन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते -

अब दूसरे मन्त्र के द्वारा फिर मार्ग की याचना करते हैं –

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।१८।।

सरलार्थ – हे अग्नि! हे देव! आप हमारे समस्त कर्मफलों को जाननेवाले हैं । हमें अपने कर्मफलों का भोग कराने ले लिए अच्छे मार्ग से ले चलिए । कुटिल पापों को हमसे दूर कीजिए । हम आपको बारम्बार नमस्कार कहते हैं ।

भाष्य – हे अग्ने ! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण । सुपथा इति विशेषणं दक्षिणमार्ग-निवृत्ति-अर्थम् । निर्विण्णो अहं दक्षिणेन मार्गेण गत-आगत-लक्षणेन अतो याचे त्वां पुनः पुनः गमन-आगमन-वर्जितेन शोभनेन पथा नय । राये धनाय कर्मफल-भोगय इति अर्थः, अस्मान् यथोक्त-धर्मफल-विशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन् ।

हे अग्नि! हमें सुन्दर मार्ग से ले चलिए । सुपथा – विशेषण का प्रयोग दक्षिण मार्ग (पितृयान) के निषेध हेतु हुआ है । आवागमन-लक्षणवाले दक्षिण मार्ग से मैं परेशान हो गया हूँ, अत: मैं आपसे बारम्बार याचना करता हूँ कि आप राये अर्थात् (मेरे) कर्मफल रूपी धन के भोग हेतु मुझे आवागमनरहित सुन्दर मार्ग से ले चलिए, क्योंकि हे देव! आप शास्त्रोक्त धर्मों के फलरूप हमारे समस्त कर्मों या उपासनाओं को जानते हैं ।

किं च युयोधि वियोजय विनाशय अस्मत् अस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकम् एनः पापम् । ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्यामः इति अभिप्रायः । किन्तु वयम् इदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम् । भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कार-वचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः ।।१८।।

और वंचनात्मक कुटिल पापों को हमसे दूर तथा नष्ट कर दीजिए । अभिप्राय यह है कि तदुपरान्त हम विशुद्ध होकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करेंगे । परन्तु इस समय हम आपकी सेवा करने में असमर्थ हैं, (अत:) हम आपको बारम्बार नमस्कार कहते हुए इस कथन के द्वारा ही आपकी सेवा करते हैं ।

ग्रन्थ का उपसंहार -

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते ।' (ईशा. ११) 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते' (ईशा. १४) इति श्रुत्वा केचित् संशयं कुर्वन्ति । अतः तत्-निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः । तत्र तावत् किं-निमित्तः संशयः इति उच्यते ।

"वह अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या (उपासना) के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है" (ईशा.११) और "वह विनाश (कार्यब्रह्म) के द्वारा मृत्युं को पार करके, सम्भूति (कारणब्रह्म) की उपासना से अमृतत्व की प्राप्ति कर लेता है" (ईशा. १४) - इसे सुनकर कुछ लोगों के मन में संशय उत्पन्न होता है । उसे दूर करने हेतु हम यहाँ संक्षेप में विचार करेंगे । यहाँ संशय किस कारण हुआ है, यह बताते हैं -

विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्या एव कस्मात् न गृह्यते अमृतत्वं च ।

शंका - (वहाँ) 'विद्या' शब्द को उसके परमात्म-विषयक विद्या के मुख्य अर्थ में और 'अमृतत्व' को भी उसके (मोक्षरूपी) मुख्य अर्थ में क्यों न लिया जाय?

ननु उक्तायाः परमात्म-विद्यायाः कर्मणः च विरोधात् समुच्चय-अनुपपत्तिः ।

समाधान - आप जिसे परमात्म-विद्या कहते हैं, उसका कर्मकाण्ड के साथ विरोध होने से (उनके बीच) समुच्चय (साथ साथ करना) हो ही नहीं सकता, ऐसा कहें तो!

सत्यम् । विरोधः तु न अवगम्यते विरोध-अविरोधयोः शास्त्र-प्रमाणकत्वात् । यथा-अविद्या-अनुष्ठानं विद्या-उपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तत्-विरोध-अविरोधौ अपि । यथा च 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इति शास्त्रात् अवगतं पुनः शास्त्रेण एव बाध्यते 'अध्वरे पशुं हिंस्यात्' इति । एवं विद्या-अविद्ययोः अपि स्यात् ।

शंका - ठीक है, लेकिन यहाँ तो विरोध देखने में नहीं आ रहा है, क्योंकि विरोध और अविरोध में प्रमाण तो शास्त्र ही है न! जैसे कर्म का अनुष्ठान तथा देवोपासना - ये दोनों और इनके बीच विरोध-अविरोध भी शास्त्र-प्रमाण पर ही निर्भर हैं । जैसे शास्त्र से ज्ञात हुआ - 'सभी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए' - और फिर शास्त्र के द्वारा ही - 'यज्ञ में पशु की हिंसा करनी चाहिए' - कहकर उसे बाधित किया गया है । इसी प्रकार कर्म और ज्ञान के विषय में भी (इनका सम्मुच्चय ही शास्त्र का तात्पर्य) होगा ।

विद्या-कर्मणोः च समुच्चयः न 'दूरम् एते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या' (कठ. उ. १/२/४) इति श्रुतेः ।

समाधान - ज्ञान तथा कर्मकाण्ड का समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति में कहा है न - "कर्म तथा ज्ञान एक दूसरे से पृथक् हैं और विपरीत फल देनेवाले हैं ।

'विद्यां च अविद्यां च' इति वचनाद् अविरोध इति चेत्?

शंका - 'विद्यां च अविद्यां च' वाक्य से यदि माने कि इनमें विरोध नहीं है, तो?

न; हेतु-स्वरूप-फल-विरोधात् ।

समाधान - नहीं होगा, क्योंकि (विद्या-अविद्या) इनके बीच हेतु (त्याग-राग), स्वरूप (एकत्व-नानात्व) तथा फल (मोक्ष-स्वर्गादि) का विरोध है ।

विद्या-अविद्या-विरोध-अविरोधयोः विकल्प-असम्भवात् समुच्चय-विधानात् अविरोध एव इति चेत्?

शंका – विद्या-अविद्या के बीच विरोध या अविरोध का (क्रिया नहीं, बल्कि सिद्ध वस्तु होने से; उसे करने, न करने या अन्य प्रकार से करने का) विकल्प सम्भव नहीं है और यहाँ समुच्चय का विधान होने से उसमें विरोध भी नहीं है – ऐसा कहें तो?

न; सह-सम्भव-अनुपपत्तेः ।

समाधान – नहीं होगा, क्योंकि दोनों का एक साथ होना अयुक्तिसंगत है ।

क्रमेण एकाश्रये स्यातां विद्या-अविद्ये इति चेत् ?

शंका – एक ही व्यक्ति में ज्ञान और कर्म बारी बारी से हों तो?

न; विद्या-उत्पत्तौ अविद्याया हि अस्तत्वात् तदाश्रये अविद्या अनुपपत्तेः । न हि अग्निः उष्णः प्रकाशः च इति विज्ञान-उत्पत्तौ यस्मिन् न आश्रये तद्-उत्पन्नं तस्मिन् एव आश्रये शीतो-अग्निः अप्रकाशो वा इति अविद्याया उत्पत्तिः न अपि संशयो अज्ञानं वा 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद् विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वम् अनुपश्यतः'' (ईशा. ७) इति शोक-मोह-आदि असम्भव-श्रुतेः । अविद्या-असम्भवात् तत्-उपादानस्य कर्मणो अपि अनुपपत्तिम् अवोचाम ।

समाधान – नहीं बनेगा । (क्योंकि) विद्या की उत्पत्ति में अविद्या का नाश हो जाने के कारण उस व्यक्ति में (पुनः) अविद्या का होना असंगत है । जिस व्यक्ति को अग्नि की उष्णता तथा प्रकाशवत्ता का ज्ञान हो गया है, उसी व्यक्ति में अग्नि की शीतलता या प्रकाशहीनता – ऐसे अज्ञान (उल्टे ज्ञान) की न तो उत्पत्ति होती है और न ही संशय या अज्ञान रह जाता है, जैसा कि श्रुति में शोक-मोह आदि को असम्भव बताते हुए कहा है – "जिस अवस्था में सभी प्राणी अपनी आत्मा ही हो जाते हैं – ऐसे एकत्व का अनुभव करनेवाले ज्ञानी को भला कौन-सा मोह और कौन-सा शोक हो सकता है?" (और) जैसा कि कहा जा चुका है कि (उस व्यक्ति में) अविद्या का नाश हो जाने के कारण उसका उपादान (फलरूप) कर्म भी असंगत हो जाता है ।

अमृतम् अश्नुते इति आपेक्षिकम् अमृतम्'। विद्याशब्देन परमात्म-विद्या-ग्रहणे हिरण्मयेन इत्यादिना द्वार-मार्ग-आदि-याचनं अनुपपन्नं स्यात् तस्मात् उपासनया समुच्चयो न परमात्म-विज्ञानेन इति यथा-अस्माभिः व्याख्यात एव मन्त्राणाम् अर्थ इति उपरम्यते । ।।१८।।

'अमृतत्वं अश्नुते' में तात्पर्य सापेक्ष अमृतत्व से है । विद्या शब्द से ब्रह्मविद्या अर्थ लेने पर 'हिरण्मयेन' आदि मंत्रों के द्वारा द्वार-मार्ग आदि के लिए याचना बेतुकी हो जाती है । इसलिए ब्रह्मविज्ञान के साथ नहीं, बल्कि उपासना के साथ समुच्चय करने को कहा गया है । मंत्रों का अर्थ वही है, जैसा कि हमने व्याख्या किया है । इसके साथ ही उपसंहार किया जाता है ।

इति श्रीमत्-परमहंस-परिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ ईशावास्य-उपनिषद्-भाष्यं सम्पूर्णम्।।
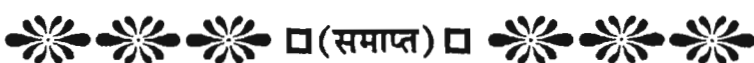
श्रीसारदा स्तुतिः

रवीन्द्रनाथ गुरु

श्रीसारदे स्वचरणार्पितमानसानां, त्वं शान्तिदा खलु सतां परिपालयित्री ।
सम्मोह-शोक-भय-विघ्न-विनाशशस्ते, मां पाहि देवि वरदे भवमोक्षदात्री ।।१।।

– हे माँ सारदे! तुम अपने चरणों में समर्पित बुद्धिवाले सज्जनों का पालन करनेवाली तथा शान्ति प्रदान करनेवाली हो । महा-मोह, शोक, भय, विघ्न आदि के नाश में पारंगत, हे वर देनेवाली तथा संसार से मुक्त करनेवाली देवि! मेरी रक्षा करो ।

मातर्विवेक जननि! त्रिगुणोपरिष्ठा, त्वं भक्तहृत्कमलवासिनि साधुलभ्या ।
ॐकारनिष्ठचरिते! कलिकल्मषघ्नि! स्वर्गापवर्गसुखदे! भव सिद्धिदात्री ।।२।।

– हे विवेक को उत्पन्न करनेवाली! तीनों गुणों के ऊपर विराज करनेवाली! भक्तों के हृदय-कमल में निवासिनी माता! तुम साधुओं द्वारा प्राप्त करने योग्य हो । हे ब्रह्मनिष्ठ चरित्रवाली! कलियुग के पापों का नाश करनेवाली! और स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख देनेवाली! तुम हमारे लिए सिद्धि प्रदान करनेवाली बनो ।

हे कर्मकानन-दवानल-सारदे त्वां, कल्याण-कल्पलतिकां प्रणमामि भक्त्या ।
चैतन्यसागरि सनातनि सत्यरूपे! श्रीरामकृष्ण-सहधर्मिणि देहि दास्यम् ।।३।।

– हे कर्मरूपी वन का विध्वंस करनेवाली दावाग्नि-स्वरूप सारदे! आप कल्याण कल्पतरु को भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ । हे चैतन्यसिन्धु! हे सनातनी! हे सत्यरूपिणी! हे श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी! मुझे अपना सेवक बना लो ।

हृच्छल्यहन्त्रि ह्यखिलामयहारिणी त्वं, सर्वेन्द्रियेश्वरि जितेन्द्रिययत्युपास्ये ।
तिष्ठाम्ब दिव्य-प्रथिताश्रम-मन्दिरे त्वं, अज्ञान-दुख निवहान्तकरि प्रसीद ।।४।।

– हृदय की पीड़ा को शान्त करनेवाली माँ! तुम समस्त रोगों को हरनेवाली हो । हे समस्त इन्द्रियों की स्वामिनी! हे जितेन्द्रिय मुनियों की उपास्य देवी! तुम दिव्य तथा विख्यात आश्रम-मन्दिर में निवास करो । हे अज्ञानरूपी दुख की विनाशिनी! तुम हम पर प्रसन्न होओ ।

त्वं देवि चित्तनिहिताशुभतापहन्त्री, भक्तापराधमभयङ्करि भञ्जयाशु ।
मातर्भव त्वमविवेक-विनाशदक्षा, मां पाहि दानव-निपातिनि दुर्गतिघ्ने ।।५।।

– हे देवि! तुम अन्तःकरण के पाप तथा दुःखों का नाश करनेवाली हो । हे अभयदायिनी! तुम शीघ्र ही भक्तों के दोषों का नाश करो । हे माता! तुम अविवेक का नाश करने में कुशल हो । हे असुरों का नाश करनेवाली! दुर्गति को दूर करनेवाली! मेरी रक्षा करो ।

कैवल्यदात्रि भजतां भव मेऽनुकूला, सौभाग्यकञ्जखमणे प्रथितप्रभावे ।
एकात्मतामृत विधायिनि! विश्वधात्रि! एह्येहि देव्यभयदे! भव शक्तिदात्री ।।६।।

– हे मोक्षदात्री! मुझ भक्तिनिष्ठ पर अनुकूल होओ । हे सौभाग्यरूपी कमल को खिलानेवाली सूर्य! हे प्रसिद्ध शक्तिवाली! हे एकात्म-रूपी अमृत का विधान करनेवाली! हे विश्व को धारण करनेवाली! हे अभय प्रदान करनेवाली देवी! आओ, आओ और हमें शक्ति प्रदान करो ।

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मन्दिर
खेतड़ी (राजस्थान)

श्रीरामकृष्णदेव तथा स्वामी विवेकानन्द के अनुरागियों के लिए खेतड़ी एक तीर्थस्थल है। खेतड़ी के राजा अजीत सिंह स्वामी विवेकानन्द के मित्र तथा शिष्य थे। स्वामीजी यहाँ तीन बार – अगस्त-अक्तूबर १८९१, अप्रैल-मई १८९३ और दिसम्बर १८९७ में पधारे थे। शिकागो में आयोजित विश्वधर्म महासभा में भाग लेकर अपना पाश्चात्य-कार्य आरम्भ करने के लिए १० मई, १८९३ को स्वामीजी ने यहीं से प्रस्थान किया था। तदनन्तर श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रमुख संन्यासी शिष्य स्वामी अखण्डानन्द ने १८९३ से १८९५ तक खेतड़ी तथा आसपास के स्थानों में निवास करते हुए शिवज्ञान से दीन-दुखियों की सेवा-कार्य का श्रीगणेश किया था।

इन्हीं स्मृतियों को स्थायी रूप देने के लिए बेलूड़ मठ की एक शाखा के रूप में खेतड़ी का यह 'रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द स्मृति मन्दिर' आरम्भ किया गया था। पिछले वर्ष के दौरान इसकी विभिन्न धार्मिक तथा सेवामूलक गतिविधियाँ इस प्रकार रहीं –

चिकित्सा : आश्रम के द्वारा 'सारदा मातृसेवा सदन' नाम से एक प्रसूतिगृह तथा शिशु कल्याण केन्द्र चलाया जाता है, जिसके माध्यम से प्रशिक्षित नर्सों तथा दाइयों द्वारा केन्द्र तथा घरों में भेजकर भी निःशुल्क सेवा की जाती है। प्रसव के पूर्व तथा बाद की सेवाएँ और साथ ही परिवार-कल्याण विषयक सलाह भी दी जाती है। गत वर्ष प्रसव हेतु १०९ महिलाएँ भर्ती हुईं और बहिर्विभाग तथा घरों में जाकर ८५४ रोगियों को निःशुल्क सेवा दी गई। **निःशुल्क होम्योपैथिक चिकित्सालय :** यहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त चिकित्सकों के द्वारा इलाज होता है। इस वर्ष २२६५ पुरुष तथा ३७४५ महिलाओं सहित कुल ६०१० रोगियों का इलाज किया गया, जिसमें १२८२ रोगी नये हैं।

शिक्षा सम्बन्धी सेवा कार्य : सारदा शिशु विहार नाम से नर्सरी स्कूल तथा बच्चों के पार्क सहित पूर्व-प्राथमिक विद्यालय चलाया जाता है, जिसमें १ सेविका तथा ३ शिक्षक सेवारत हैं। इस वर्ष ३९ बालक तथा २६ बालिकाओं सहित शिशुओं की कुल संख्या ६५ थी। **पुस्तकालय तथा निःशुल्क वाचनालय :** आश्रम में एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी है। इसमें पुस्तकों की कुल संख्या २९३० थी, जिनमें से ८१९ निर्गमित हुईं। वाचनालय में पत्रिकाओं की संख्या ३५ तथा दैनिकों की संख्या ३ थी। प्रतिदिन की औसत उपस्थिति १९ थी।

व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र : निर्धन बालिकाओं के लिए 'सारदा सिलाई शिक्षण केन्द्र' नाम से मिशन अलग अलग स्थानों पर तीन निःशुल्क प्रशिक्षण विद्यालय चलाता है। छह महीने का यह प्रशिक्षण पानेवाली बालिकाओं की कुल संख्या ६० थी। **सहायता तथा निर्माण :** आश्रम द्वारा इस वर्ष विभिन्न विद्यालयों के १२० गरीब विद्यार्थियों को अभ्यास-पुस्तिका तथा पेन वितरित की गई। इन गरीब लोगों के बीच ४० क्विन्टल गेहूँ और २१५ कम्बलों का वितरण किया गया। **आर्थिक सहायता :** इस वर्ष १८१२ रुपये देकर २८ लोगों की आर्थिक सहायता की गई।

सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक : इस वर्ष श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा अन्य अवतारी महापुरुषों का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। यहाँ प्रतिदिन मंगल-आरती तथा संध्या-आरती होती है। साथ ही प्रत्येक एकादशी के दिन रामनाम संकीर्तन होता है। इस वर्ष शास्त्र की कक्षाएँ, आध्यात्मिक शिविर तथा व्याख्यान आयोजित हुए।

प्रचार कार्य : केन्द्र में ६३ प्रवचन तथा १९ व्याख्यान हुए।